

# क्या अप्रमत्त अवस्था मात्र शुद्धोपयोग में ही होती है?

रत्नत्रय मोक्षमार्ग है। जीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धान, वस्तु-स्वरूप का ज्ञान एवं व्रतादि का धारण व्यवहार रत्नत्रय है तथा निज आत्मा में श्रद्धान, निज आत्मा का ज्ञान और निज आत्मा में पूर्ण लीनता निश्चय रत्नत्रय है। यह रत्नत्रय मुनि अवस्था के बगैर पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सकता। मुनि अवस्था का प्रारंभ अप्रमत्त अवस्था से होता है। परन्तु यह अप्रमत्त अवस्था अंतर्मुहूर्त से अधिक नहीं रहती। इसके पश्चात् प्रमत्त अवस्था आती है। प्रमत्त अवस्था भी अंतर्मुहूर्त से अधिक नहीं रहती। विशुद्धि के कायम रहने पर जीव पुनः अप्रमत्त अवस्था, फिर प्रमत्त इस प्रकार हिंडोले की भाँती अप्रमत्त-प्रमत्त में झूलता रहता है। शुद्धोपयोग की उत्कृष्ट अवस्था बनने पर अप्रमत्त से आगे श्रेणी पर आरोहण होता है।

मुनि अवस्था के इस प्रमत्त-अप्रमत्त स्वरूप के बारे में आगमानुसार विचार इस लेख का विषय है।

प्रमत्तसंयत का स्वरूप गोम्मटसार जीवकांड में इस प्रकार दिया है—

संजलणणोकसायाणुदयादो संजमो हवे जम्हा ।  
मलजणणपमादो वि य, तम्हा हु पमत्तविरदो सो ॥32 ॥  
अर्थ - जिस कारण से संज्वलन कषाय के सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय, 12 कषाय तथा अनुदय को प्राप्त संज्वलन और नोकषाय के निषेकों का सदवस्थारूप उपशम होने पर तथा संज्वलन तथा नोकषाय के देशघाती स्पर्धकों का तीव्र उदय होने पर संयम के साथ मल को उत्पन्न

करने वाला प्रमाद भी होता है। अतएव छठे गुणस्थानवर्ती को प्रमत्तविरत कहते हैं ॥32॥

अप्रमत्तसंयत का स्वरूप गोम्मटसार जीवकांड में इस प्रकार दिया है—

संजलणणोकसायाणुदओ मंदो जदा तदा होदि।  
अपमत्तगुणो तेण य, अपमत्तो संजदो होदि ॥45॥  
अर्थ - जब संज्वलन और नोकषाय का उदय मन्द अर्थात् प्रमाद को उत्पन्न करने की शक्ति से रहित होता है तब अप्रमत्त गुणस्थान होता है। इस कारण से अप्रमत्त गुण से युक्त संयत अप्रमत्तसंयत होता है। ॥45॥

उपर्युक्त गाथाओं से यह स्पष्ट होता है कि प्रमत्तसंयत अवस्था में संज्वलन का तीव्र उदय है एवं अप्रमत्तसंयत में संज्वलन का मंद उदय है। यह इन दोनों गुणस्थानों में अंतर है। इससे तात्पर्य यह है कि मुनि जीवन में हर अंतर्मुहूर्त में कषायों की मंदता होती ही है क्योंकि दोनों ही गुणस्थानों का अधिकतम काल भी अंतर्मुहूर्त ही है। अनेक लोगों का ऐसा मानना है कि अप्रमत्त अवस्था शुद्धोपयोग की ही है एवं प्रमत्त अवस्था शुभोपयोग की ही है। परन्तु ऐसा इन दोनों गुणस्थानों का स्वरूप नहीं है। अप्रमत्तसंयत में भी शुभोपयोग होता है और बिना शुद्धोपयोग के भी सप्तम गुणस्थान बनता रहता है। (इस लेख में शुद्धोपयोग से तात्पर्य आत्मानुभव, निर्विकल्प स्व-संवेदन, वीतराग चारित्र से है।)

यह ध्यान रहे कि जब प्रथम बार सप्तम की प्राप्ति होती है, तब आत्म-सन्मुख करण परिणामपूर्वक ही होती है। परन्तु हर अंतर्मुहूर्त में आत्मानुभव

अथवा शुद्धोपयोग की प्राप्ति हो ही — ऐसा जरूरी नहीं है । अप्रमत्त की इतनी विशेषता है कि यहाँ संज्वलनादि कषायों के उदय मंद रहते हैं तथा प्रमत्त में इनके तीव्र उदय होते हैं । अनन्तानुबन्धी तीन कषाय चौकड़ी के अभाव रूप वीतरागता प्रमत्त-अप्रमत्त दोनों ही अवस्थाओं में रहती है । परन्तु हर अंतर्मुहूर्त में शुद्धोपयोग ही मानना आगम-सम्मत, तर्क-सम्मत नहीं है ।

**प्रश्न:** गोम्मटसार जीवकांड में कहा है कि

णट्टासेसपमादो, वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी।

अणुवसमओ अखवओ, झाणणिलीणो हु अपमत्तो॥46॥

अर्थ - जिस संयत के सम्पूर्ण व्यक्ताव्यक्त प्रमाद नष्ट हो चुके हैं, और जो समग्र ही महाव्रत, अट्टाईस मूलगुण तथा शील से युक्त है, सम्यग्ज्ञान के उपयोग से युक्त है तथा जिसका मन धर्मध्यान में लीन है, ऐसा अप्रमत्त मुनि जब तक उपशमक या क्षपक श्रेणी का आरोहण नहीं करता तब तक उसको स्वस्थान अप्रमत्त अथवा निरतिशय अप्रमत्त कहते हैं ॥46॥

इसमें कहा है कि सप्तम गुणस्थान में जीव ध्यान में लीन होता है अतः यह गुणस्थान शुद्धोपयोग मात्र का है ।

**उत्तर:** यदि सप्तम के स्वरूप में ध्यान-लीन दिया है तब तो चतुर्थ से षष्ठम गुणस्थान तक में ध्यान-लीन नहीं दिया होने से इन गुणस्थानों में ध्यान नहीं होना चाहिए ! परन्तु ऐसा तो है नहीं क्योंकि तत्त्वार्थ-सूत्रजी में शुभ ध्यान के स्वामी चतुर्थ गुणस्थान से ही कहे हैं ।

तत्त्वार्थ-सूत्र अधिकार 9, सूत्र 36

तदविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां भवति ।

**अर्थ:** यह धर्मध्यान अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत जीवों के होता है ।

**शंका** — चतुर्थ से षष्ठम गुणस्थान में ध्यान कभी-कभी होता है और सप्तम में निरंतर होता है इसलिए यहाँ ध्यान-लीन कहा है और नीचे के गुणस्थानों में नहीं कहा है । तथापि वहाँ भी कदाचित् ध्यान होता ही है ।

**समाधान** — तो फिर इसी गाथा में 'णाणी' भी कहा है । तो इसका तात्पर्य हुआ कि सप्तम गुणस्थान में जीव निरंतर ज्ञानी होता है और नीचे के गुणस्थानों में कभी-कभी ज्ञानी होता है अथवा अज्ञानी ही रहता है । क्या ऐसा मानना इष्ट हो सकता है ? नहीं, क्योंकि सम्यग्ज्ञान का प्रारंभ तो चतुर्थ गुणस्थान से हो जाता है जो निरंतर चलता रहता है । तो फिर ध्यान-लीन का क्या अर्थ है? भाई, यहाँ दिये गये ज्ञानी और ध्यान-लीन विशेषण मध्य-दीपक है जो इसके पूर्व और उत्तर दोनों गुणस्थानों पर लागू पड़ते हैं । चतुर्थ से ही जीव ज्ञानी होता है और यथायोग्य ध्यान-लीन होता है । इसी प्रकार देशसंयम, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत में भी जानना चाहिए ।

**शंका** — तो फिर आपने मान ही लिया ना कि सप्तम गुणस्थान ध्यान का है ?

**समाधान** — अरे भाई, सप्तम में ध्यान नहीं होता यह कौन कह रहा है । इसे तो हम मानते ही हैं कि सप्तम में ध्यान पाया जाता है । परन्तु 1) सप्तम में मात्र आत्म-ध्यान अथवा शुद्धोपयोग अथवा आत्मानुभव ही पाया जाता है तथा 2) छठे में ध्यान अथवा शुद्धोपयोग पाया ही नहीं जाता — इन दो विपरीत रूप से प्रकाशित चर्चाओं पर प्रकाश डाला जा रहा है ।

इस गाथा में ध्यान-लीन कहा है सो वह अप्रमत्तसंयत की एक विशेषता है । वह अप्रमत्त दशा का लक्षण नहीं है । लक्षण तो आचार्य देव पूर्व की गाथा में ही बता चुके हैं । यह ध्यान-लीनता कभी पायी भी जाती है, कभी नहीं भी पायी जाती है जैसे कि प्रमत्तसंयत अवस्था में कभी ध्यान होता भी है, कभी नहीं भी होता है ।

दूसरी बात — ध्यान में लीन होता ही है कदाचित् ऐसा भी मान लिया जाए, तो चार ध्यानों में से कौन-सा ध्यान होता है? आर्त्त-रौद्ररूप अशुभ ध्यान तो यहाँ संभव नहीं हैं । शुक्ल ध्यान श्रेणी के काल में होता है । शेष रहा धर्म ध्यान, वह यहाँ संभव है । इस धर्म ध्यान के चार भेद हैं । वे कोई भी इस गुणस्थान में संभव हैं । मात्र शुद्धोपयोग ही तो धर्म-ध्यान नहीं है । संज्वलन के मंद उदय सहित आज्ञा विचय आदि धर्म-ध्यान में लीन भी सप्तम गुणस्थान का स्वरूप बन जाता है । इसलिए शुद्धोपयोग ही सप्तम में पाया जाता है ऐसा मानना योग्य नहीं है ।

**शंका** — अप्रमत्त अवस्था में धर्मध्यान के सभी प्रकार पाए जाते हैं ऐसा कैसे कह सकते हैं ? वहां मात्र आत्मानुभव रूप ध्यान पाया जाता है । बाकी सब ध्यान तो नीचे के गुणस्थान में पाए जाते हैं ।

**समाधान** — ऐसा नहीं है । स्वामी कार्तिकेय-अनुप्रेक्षा गाथा 482 की टीका देखिये —

तथा हि आर्तरौद्रपरित्यागलक्षणमाज्ञापायविपाकसंस्थानविचयसंज्ञा-  
चतुर्भेदभिन्नं तारतम्यवृद्धिक्रमेणासंयतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसंयताप्रमत्त-  
संयताभिधानचतुर्गुणस्थानवर्तिजीवसंभवं मुख्यवृत्त्या पुण्यबंधकारणमपि परम्परया  
मुक्तिकारणं चेति ।

**अर्थ** — ये आर्त्त-रौद्र के त्याग लक्षण वाला आज्ञा-अपाय-विपाक-संस्थानविचय संज्ञावाला चारों प्रकार का धर्म-ध्यान तारतम्य वृद्धि क्रम से असंयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती जीवों के होता है । यद्यपि मुख्यरूप से यह पुण्यबंध का कारण है फिर भी परंपरा से मुक्ति का कारण है ।

यहाँ आचार्य देव ने स्पष्ट रूप से कहा है कि चारों प्रकार के धर्म-ध्यान अप्रमत्तसंयत अवस्था में भी होते हैं । अतः ऐसा मानना ठीक नहीं है कि मात्र शुद्धोपयोग-रूप ही ध्यान सप्तम गुणस्थान में पाया जाता है ।

**शंका:** तत्त्वसार ग्रन्थ में गाथा 16 की टीका में सप्तम गुणस्थान का स्वरूप इस प्रकार से बताया है —

बाह्ये पूर्वोक्तसम्यक्त्रिविधैकतमपूर्वकसकलचारित्रनिरतिचारधारिणोऽन्तरंगे  
रूपातीतधर्मध्यानानुकोटिवर्तिनो निजितेन्द्रियविषयतीव्रकषाया  
द्रव्यश्रुताभ्यासकौशल्याविष्कृतात्मोत्थस्वसंवेदन ज्ञानानुभूतिशक्तयः, एवंविधा  
अप्रमत्तसप्तमगुणस्थानवर्तिनो भवन्ति ।

**अर्थ:** अब सप्तम अप्रमत्तविरत गुणस्थानका स्वरूप कहते हैं—जब संज्वलन और नोकषायों का मन्द उदय प्रवर्तित होता है, तब संयत साधुजन अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती होते हैं । उस समय वे बाहिर से तो निरतिचार सकलचारित्र के धारक होते हैं और अन्तरंग में पूर्वोक्त तीन प्रकार के सम्यक् में से किसी एक सम्यक् के धारक, रूपातीत धर्मध्यान की उच्चकोटि के साधक, इन्द्रियों के विषय और तीव्र संज्वलन कषाय के विजेता, तथा द्रव्यश्रुत के अभ्यास की कुशलता से आविष्कृत आत्मोत्पन्न स्व-संवेदन ज्ञानानुभूति की शक्तिवाले होते हैं ।

इसमें स्पष्टरूप से कहा है कि अप्रमत्तसंयत (1) रूपातीत धर्म ध्यान की उच्च कोटि के साधक और (2) आत्मोत्पन्न स्वसंवेदन ज्ञानानुभूति की शक्तिवाले होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि 7वे गुणस्थान में शुद्धोपयोग सहित रूपातीत ध्यान ही होता है ?

**समाधान:** यह अप्रमत्त अवस्था का उत्कृष्ट स्वरूप कहा गया है। इससे 'अप्रमत्त अवस्था में ध्यान होना ही चाहिए' — ऐसा सिद्ध नहीं होता। टीका में कहा है कि अप्रमत्तसंयत रूपातीत ध्यान की उच्च कोटि के साधक होते हैं (रूपातीतधर्मध्यानानुकोटिवर्तिनो)। तो क्या हर सप्तम गुणस्थानवर्ती उच्च कोटि का रूपातीत साधक होगा ही? क्या मध्यम और जघन्य साधक प्रमत्त ही होंगे ?? ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि शेष साधक बस प्रमत्त तक ही जा पाएंगे। याने सप्तम का उत्कृष्ट स्वरूप क्या हो सकता है उसको आचार्य देव यहाँ कह रहे हैं। दूसरी बात, आगे यहाँ ही लिखा है कि वे ज्ञानानुभूति की शक्ति वाले होते हैं (ज्ञानानुभूतिशक्तयः)। शक्ति और व्यक्ति में अंतर होता है ऐसा तो आप मानते ही होंगे ! शक्ति हर समय पायी जाती है और व्यक्ति कदाचित् होती है। जैसे कि जीव की केवलज्ञान शक्ति तो हर समय है परन्तु उसकी व्यक्ति कभी ही हो पाती है। एक स्त्री में मातृत्व शक्ति तो होती है परन्तु उसकी व्यक्ति कभी ही हो पाती है। ऐसे ही अप्रमत्त मुनि ज्ञानानुभूति की शक्ति वाले हैं, वे ज्ञानानुभूति की व्यक्ति कर सकते हैं परन्तु हर बार अप्रमत्त में व्यक्ति होती ही है ऐसा तो नहीं कहा है।

इस टीका में अप्रमत्तसंयत को रूपातीत ध्यान का उच्च कोटि का साधक कहा है। इससे भी सिद्ध होता है कि यह सप्तम के उत्कृष्ट स्वरूप को बता रहे हैं क्योंकि सप्तम में मात्र रूपातीत ही ध्यान तो नहीं पाया जाता बल्कि चारों

धर्म-ध्यान और इसके प्रभेद पिण्डस्थ, पदस्थ आदि ध्यान भी पाए जाते हैं जैसा कि कार्तिकेय-अनुप्रेक्षा के उपर्युक्त प्रमाण में कहा है। रूपातीत ध्यान पिण्डस्थ, पदस्थ आदि ध्यानों में अंतिम है याने आचार्य देव ने इस टीका में अंतिम ध्यान का उल्लेख किया है जो उत्कृष्ट-स्वरूप का संकेत है।

हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी भी वस्तु/स्थान का उत्कृष्ट स्वरूप ही पूर्ण स्वरूप नहीं हो जाता है। उसके जघन्य और मध्यम आदि अनेकों प्रकार के भेद पाए जा सकते हैं। इसी प्रकार अप्रमत्तसंयत का उत्कृष्ट स्वरूप ही पूरा स्वरूप नहीं है, उसके असंख्यात लोक प्रमाण भेद पाए जाते हैं।

**शंका:** बृहद द्रव्य-संग्रह की गाथा 13 की टीका में सप्तम गुणस्थान के स्वरूप के अंतर्गत 'निष्प्रमादशुद्धात्मसंवित्तिमलजनकव्यक्ताव्यक्तप्रमादरहित' शब्द का प्रयोग किया गया है। इससे शुद्धोपयोग सप्तम में होना अनिवार्य प्रतीत होता है?

**समाधान:** द्रव्य-संग्रह में इसी गाथा 13 की टीका में आचार्य देव ने प्रमत्त गुणस्थान में भी 'शुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतानुभवलक्षणेषु..' अर्थात् शुद्धात्मा की संवित्ति से उत्पन्न सुखामृत का अनुभव है लक्षण जिसका ऐसा प्रमत्तसंयत — ऐसा कहा है तो फिर सप्तम और षष्ठम में भेद क्या रह जाता है? क्योंकि दोनों में ही शुद्धात्मसंवित्ति से उत्पन्न अवस्था कही है। और फिर जो छठे में शुभोपयोग और सातवे में ही शुद्धोपयोग आप मानते हैं उसका भी क्या अर्थ रहा जाता है? क्योंकि यहाँ तो छठे में भी शुद्धात्मसंवित्ति कही जा रही है।

मेरे कहने का तात्पर्य है कि यहाँ पर भी जो सप्तम का उत्कृष्ट स्वरूप हो सकता है वह बताया गया है। जैसे छठे में हमेशा आत्मानुभूति नहीं होती रहती वैसे सप्तम में भी हमेशा आत्मानुभव नहीं चलता रहता।

शंका: आस्रव अधिकार की गाथा 177-178 की टीका में आचार्य जयसेन लिख रहे हैं कि

शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मोपादेयत्वे सति तद्योग्यस्वकीयशुद्धात्मसमाधि-संजातसहजानन्दैकस्वलक्षणसुखानुभूतिमात्रस्वरूपाऽप्रमत्तादिगुणस्थानवर्तिवीतरागचारित्राविनाभूतवीतरागसम्यक्त्वास्यान्यथानुपपत्तेरिति।

अर्थ: शुद्धबुद्ध एक स्वभाव परमात्मा का उपादेयपाना होने से उसके योग्य स्वकीय शुद्धात्मा की समाधि से उत्पन्न सहजानन्द एक निज लक्षणरूप सुखानुभूतिमात्र-स्वरूप अप्रमत्तादि गुणस्थानवर्ती वीतराग चारित्र के अविनाभावी वीतराग सम्यक्त्व की अन्यप्रकार से असिद्धि है।

इसमें कहा है कि प्रमादरहित शुद्धात्म समाधि सुखानुभूति के बिना 7वें गुणस्थान के योग्य वीतराग चारित्र और वीतराग सम्यक्त्व की अन्यथा-अनुत्पत्ति है। इससे तो यही लगता है कि सप्तम गुणस्थान में शुद्धात्म-समाधिरूप सुखानुभूति होनी ही चाहिए?

समाधान: आचार्य जयसेन स्वामी ने यहाँ मात्र सप्तम का स्वरूप नहीं कहा है बल्कि अप्रमत्तादि गुणस्थानवर्ती कहा है याने अप्रमत्त से लेकर आगे के सभी गुणस्थान। यहाँ पर आचार्य देव ने वीतराग चारित्र और वीतराग सम्यक्त्व की चर्चा की है जो कि श्रेणी के योग्य होता है। श्रेणी के काल में तो शुद्धोपयोग सर्वजन को स्वीकार ही है। सप्तम में मात्र अभेद रत्नत्रय अथवा वीतराग चारित्र नहीं होता ऐसा स्वयं आचार्य जयसेन को इष्ट है जैसा कि समयसार गाथा 12 की टीका में आचार्य देव ने कहा है —

अशुद्धे असंयतसम्यग्दृष्टयपेक्षया श्रावकापेक्षया वा सरागसम्यग्दृष्टिलक्षणे शुभोपयोगे प्रमत्ताप्रमत्त-संयतापेक्षया च भेदरत्नत्रयलक्षणे वा द्विदा स्थिताः।

अर्थ: असंयतसम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से अथवा श्रावक की अपेक्षा से सरागसम्यग्दृष्टि लक्षणवाले शुभोपयोग में तथा प्रमत्त-अप्रमत्त संयत (सकल संयमी) की अपेक्षा से भेद-रत्नत्रय लक्षण में स्थित है।

यहाँ और एक विशेष बात है कि चतुर्थ और पांचवें के साथ शुभोपयोग कहा है परन्तु प्रमत्त और अप्रमत्त के साथ भेद-रत्नत्रय कहा है। यदि भेद-रत्नत्रय को शुद्धोपयोग माना जाए तो क्या छठे में फिर शुभोपयोग नहीं पाया जाता है, मात्र शुद्धोपयोग ही पाया जाता? परन्तु ऐसा तो नहीं माना जाता तो फिर छठे में शुभोपयोग भेद-रत्नत्रय के साथ कहना पड़ता है। याने भेद रत्नत्रय के साथ शुभोपयोग होता है ऐसा सिद्ध होता है। यह भेद-रत्नत्रय अप्रमत्त में भी कहा है तो अप्रमत्त में भी शुभोपयोग स्वीकारना होगा।

शंका: यहाँ 12वीं गाथा की टीका में कहे गए भेद-रत्नत्रय को सिर्फ प्रमत्तसंयत गुणस्थान की अपेक्षा से लिया जाए और अभेद-रत्नत्रय अप्रमत्तसंयत में माना जाए तो क्या बाधा है? प्रवचनसार गाथा 196 में आचार्य जयसेन स्वामी ने कहा भी है कि प्रमत्त में ध्यान-संतान और अप्रमत्तसंयत में ध्यान पाया जाता है।

समाधान: पहले ध्यान-संतान की बात करते हैं। प्रवचनसार गाथा 196 की टीका में कहा है —

अथ ध्यानसन्तानः कथ्यते - यत्रान्तर्मुहूर्तपर्यन्तं ध्यानं, तदनन्तरमन्तर्मुहूर्तपर्यन्तं तत्त्वचिन्ता, पुनरप्यन्तर्मुहूर्तपर्यन्तं ध्यानं, पुनरपि तत्त्वचिन्तेति प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानवदन्तर्मुहूर्तेऽन्तर्मुहूर्ते गते सति परावर्तनमस्ति स ध्यानसन्तानो भण्यते।

इसका अर्थ है — जहाँ प्रमत्त-अप्रमत्त में अंतर्मुहूर्त पर्यंत ध्यान होता है, फिर अंतर्मुहूर्त पर्यंत तत्त्वचिंता होती है, फिर ध्यान, फिर तत्त्वचिंता — ऐसा परावर्तन होता रहता है उसे ध्यानसन्तान कहते हैं ।

इससे ऐसा फलित नहीं होता कि अप्रमत्त में ध्यान होता है और प्रमत्त में तत्त्वचिंता होती है । यदि ऐसा ही अभिप्राय होता तो उसके लिए क्रमशः शब्द दिया जाता जिससे पता चलता कि ये दोनों — तत्त्वचिंता और ध्यान एक-एक गुणस्थान में लेने हैं ना कि दोनों में । याने यहाँ तो स्पष्ट यह कहा है कि प्रमत्त में भी तत्त्वचिंता और ध्यान दोनों होते हैं तथा अप्रमत्त में भी दोनों ही पाए जाते हैं ।

अब आपके मूल प्रश्न के बारे में बात करते हैं । क्या उपर्युक्त ध्यानसन्तान का अर्थ मानने पर यह कहा जा सकता है कि प्रमत्तसंयत में भेद-रत्नत्रय है और अप्रमत्तसंयत में अभेद रत्नत्रय ? क्या भेद रत्नत्रय यह शब्द अपने आप में बहुत कुछ नहीं कह देता ?? यदि प्रमत्त में भेद-रत्नत्रय और अप्रमत्त में अभेद-रत्नत्रय ही मानना इष्ट होता तो क्या आचार्य स्वयं ही भेदाभेद शब्द का प्रयोग नहीं कर लेते? याने अप्रमत्तसंयत में भी भेद-रत्नत्रय पाया जाता है — ऐसा आचार्य कह रहे हैं ।

शंका: बृहद् द्रव्य-संग्रह की गाथा 30 की टीका में तो अंतरंग में आत्मानुभव से डिगाने वाले परिणाम को और बाह्य विषय में मूलगुण और उत्तरगुण में दोष लगाने वाले परिणाम को प्रमाद कहा है (अभ्यन्तरे निष्प्रमादशुद्धात्मानुभूतिचलनरूपः बहिर्विषये तु मूलोत्तरगुणमलजनकश्चेति प्रमादः) और उसी गाथा में उसके 15 भेद बताये हैं। इससे तो 7वे गुणस्थान में शुद्धोपयोग अनिवार्य है यह बात स्पष्ट लगती है?

समाधान: आत्मानुभव से डिगाने वाले परिणाम ही प्रमाद हैं तो फिर चतुर्थ, पंचम और षष्ठम इन सारे ही गुणस्थानों में प्रमाद होता है, तब यहाँ किंचित् भी आत्मानुभव संभव नहीं होगा !! लेकिन यहाँ यथायोग्य आत्मानुभव तो पाया जाता है । तो जैसे प्रमाद के होते हुए भी यथायोग्य आत्मानुभव पाया जा रहा है, वैसे प्रमाद के अभाव में शुद्धोपयोग भी पाया ही जाए ऐसा नहीं है । उत्कृष्ट रूप में जीव की परिणति होगी तो वहाँ शुद्धोपयोग भी हो जाएगा परन्तु हर सप्तम में शुद्धोपयोग संभव नहीं है ।

शंका: प्रवचनसारजी की गाथा 9 की टीका में आचार्य जयसेन ने अप्रमत्तसंयत से लेकर ऊपर के गुणस्थानों में शुद्धोपयोग होना कहा है—

|  |  |
|--|--|
| मिथ्यात्वसासादनमिश्रगुणस्थानत्रये  | तारतम्येनाशुभोपयोगः,                                 |
| तदनन्तरमसंयतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसंयतगुणस्थानत्रये  | तारतम्येन  |
| शुभोपयोगः,   | तदनन्तरमप्रमत्तादिक्षीणकषायान्तगुणस्थानषट्के         |
| शुद्धोपयोगः,   | तदनन्तरं सयोग्ययोगिजिनगुणस्थानद्वये शुद्धोपयोगफलमिति |
| भावार्थः ।   |  |
| अर्थ: मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानों में तारतम्य से अशुभोपयोग; इसके बाद असंयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत और प्रमत्तसंयत — इन तीन गुणस्थानों में तारतम्य से शुभोपयोग; इसके आगे अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से क्षीणकषाय पर्यन्त छह गुणस्थानों में तारतम्य से शुद्धोपयोग; इसके बाद सयोगीजिन और अयोगीजिन — ये दो गुणस्थान शुद्धोपयोग के फल हैं — यह भाव है । |  |

बृहद् द्रव्य-संग्रह की गाथा 34 की टीका में भी इसी प्रकार का विवरण किया है । तो फिर सप्तम गुणस्थान में शुभ उपयोग कैसे हो सकता है?

**समाधान:** जो यहाँ आचार्य जयसेन ने प्रवचनसारजी की टीका में और श्रीब्रह्मदेव सूरी ने बृहद् द्रव्य-संग्रह टीका में लिखा है क्या उससे आप ये निर्णय ले रहे हैं कि 1-3 गुणस्थान तक अशुभ, 4-6 गुणस्थान तक शुभ और 7-12 गुणस्थान तक शुद्ध उपयोग है ? यदि ऐसा अर्थ कर रहे हैं तो तारतम्य शब्द पर भी दृष्टि दीजिये और इन गुणस्थानों के पूरे स्वरूप पर भी विचार कीजिये । क्या आप प्रथम गुणस्थान में मात्र अशुभ को स्वीकार कर सकते हैं ? यदि हाँ, तो फिर प्रथम गुणस्थान वाले नव-त्रैवेयक तक नहीं जा पाएंगे क्योंकि अशुभ भावों के द्वारा वहाँ तक कैसे जा सकते हैं!!

स्वयं आचार्य जयसेन स्वामी ने प्रथम गुणस्थान में शुभोपयोग स्वीकार किया है । देखिये समयसार गाथा 74 की तात्पर्यवृत्ति टीका:

तत्रैवं कथंचित् परिणामित्वे सति अज्ञानी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टिर्जीवो विषयकषायरूपाशुभोपयोगपरिणामं करोति । कदाचित् पुनश्चिदानन्दैकस्वभावं शुद्धात्मानं त्यक्त्वा भोगाकांक्षानिदानस्वरूपं शुभोपयोगपरिणामं च करोति ।

अर्थ: वहाँ कथंचित् परिणामी होने से अज्ञानी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव विषय-कषायरूप अशुभोपयोग परिणाम को करता है और कदाचित् पुनः चिदानन्द एक स्वभाव रूप शुद्धात्मा को छोड़कर भोग-आकांक्षा निदान स्वरूप शुभोपयोग परिणाम को करता है ।

तथा हर चतुर्थ गुणस्थान वाला जो लड़ाई भी लड़ रहा है, स्त्री भी भोग रहा है उसे क्या शुभ ही मानेंगे ? बुद्धि तो गंवारा नहीं करेगी उसे शुभ मानने को । और फिर 4 से 6 गुणस्थान में आत्मानुभव के लिए स्थान ही नहीं रह जाता है क्योंकि इन गुणस्थानों में आप मात्र शुभ ही मानते हैं । तथा जो सप्तम में है,

क्या उसे मात्र शुद्ध ही उपयोग है, कुछ भी शुभ या अशुभ उपयोग नहीं है? यदि नहीं है, तो फिर कर्म बंध से रहित मानना पड़ेगा क्योंकि शुभ और अशुभ परिणामों से ही बंध होता है और आपके अनुसार वह यहाँ है नहीं; परन्तु यह भी आगम विरुद्ध ही सिद्ध होगा । तो फिर क्या आशय है आचार्य देव का ?

आचार्य देव यह कह रहे हैं कि प्रथम से तृतीय तक तारतम्य से अशुभ होता है याने घटता-बढ़ता (हीनाधिक) अशुभ होता है परन्तु शुभ होता ही नहीं ऐसा नहीं कह रहे हैं । फिर 4-6 में तारतम्य से शुभ होता है याने मात्र शुभ ही नहीं होता, परन्तु अशुभ भी होता है और यथायोग्य हीनाधिक स्व-संवेदन रूप शुद्ध भी होता है । आगे 7-12 में शुद्ध होता है याने मात्र शुद्ध ही नहीं होता परन्तु यथायोग्य अशुभ और शुभ भी होता है अन्यथा 10वे गुणस्थान तक कर्म का बंध कैसे होता? अर्थात् 'सप्तम में भी शुभोपयोग पाया जाता है' — यह इस ही प्रमाण से सिद्ध हो जाता है ।

ऊपर जो 7वे आदि में अशुभ उपयोग कहा है, वह 7वे एवं 8वे में समझना चाहिए क्योंकि अप्रशस्त वर्णादि का बंध 8वे गुणस्थान तक संभव है । देखिये धवल पुस्तक 16, पृष्ठ 413-414 —

अप्पसत्थवण्णचदुक्कस्स मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अपुव्वकरणस्स छ-सत्तमभागा त्ति अधापवत्तसंकमो । उवरि जाव सुहुमसांपराइयचरिमसमओ त्ति ताव गुणसंकमो । तत्तो उवरि संकमो णत्थि, बंधाभावेण पडिग्गहाभावादो ।

अर्थ: अप्रशस्त वर्णादि चार का मिथ्यादृष्टि से लेकर अपूर्वकरण के सात भागों में से छठे भाग तक अधःप्रवृत्तसंक्रम होता है । आगे सूक्ष्मसाम्परायिक के अन्तिम समय तक उनका गुणसंक्रम होता है । इसके आगे उनका संक्रम

**नहीं है क्योंकि बन्ध के न होने से उनकी प्रतिग्रह प्रकृतियों का वहां अभाव है ।**

श्रेणी में अप्रशस्त प्रकृतियों का तब तक अधःप्रवृत्तसंक्रमण होता है जब तक वे बंधती हैं । बंध के पश्चात् उनका गुणसंक्रमण प्रारंभ होता है । यहाँ अप्रशस्त वर्णादि का 8वे गुणस्थान के छठे भाग तक अधःप्रवृत्त संक्रमण कहा है याने यहाँ तक उसका बंध होता है । छठे भाग में इनकी बंध व्युच्छिन्नि होने के पश्चात् इन अप्रशस्त प्रकृतियों का गुणसंक्रमण प्रारंभ होता है ।

क्षीणमोह गुणस्थान में भी चारित्र अपेक्षा शुद्ध उपयोग होने पर भी ज्ञान अपेक्षा अभी अशुद्ध उपयोग है क्योंकि ज्ञान पूर्ण नहीं हुआ है । उसे अभी यहाँ गौण करते हैं क्योंकि हम चारित्र गुण की प्रधानता से विचार कर रहे हैं ।

**प्रश्न:** गोम्मटसार कर्मकांड गाथा 46 में कहा है कि संज्वलन कषाय का वासना काल अंतर्मुहूर्त है, इससे अधिक नहीं । अतः प्रत्येक अंतर्मुहूर्त में आत्मानुभव होता है ।

**अंतोमुहूर्तपक्वं छम्मासं संखासंखणंतभवं ।**

**संजलणमादियाणं वासणकालो दु णियमेण ॥ 46 ॥**

**उत्तर:** संज्वलन कषाय का वासना काल अंतर्मुहूर्त है यह तो ठीक बात है लेकिन उसका सम्बन्ध आत्मानुभव से कैसे जोड़ लिया आपने ? वासना काल का अर्थ क्या है? टीका में वासना काल का अर्थ दिया है — “उदयाभावेऽपि तत्संस्कारकालो वासनाकालः । अर्थः उदय के अभाव में भी उनका संस्कार जितने काल रहता है उसे वासना काल कहते हैं ।” एक कषाय भाव की किसी वस्तु / घटना / परिस्थिति को लेकर जो तीव्रता उत्पन्न हुई थी वह तत्संबंधी वासना कहलाती है । जैसे कि किसी को कार देखकर भाव बने कि मुझे यह

कार लेनी है और वह विषय उसके चित्त में चलता ही जा रहा है । हर पल बारम्बार उसी की याद, पूर्ति कैसे हो इसके बारे में चिंतन आदि चल रहा है । बीच-बीच में वह अन्य कार्य भी कर लेता है, अन्य क्रोध, मान आदि कषायों के उदय आ जाते हैं पर अन्तरंग में उसकी कषाय उस कार में लगी हुई है याने उस व्यक्ति को कार सम्बन्धी वासना चल रही है । ऐसे ही क्रोध आदि कषायों पर भी लगा लेना । अब यह जो वासना है उसका निराकरण कैसे होगा ? क्या आत्मानुभव ही वासना को मिटाने का एक मात्र उपाय है अथवा कुछ और भी हो सकता है ? जैसे आपको भी जीवन में अनेक बार किन्हीं लोगों के प्रति क्रोध आया और लम्बा चला भी, परन्तु फिर आपने उसे शांत कर दिया । क्या उस क्रोध को शांत करने के लिए आपने आत्मानुभव किया अथवा कुछ तत्त्व विचार करके या जिन-दर्शन से या किसी के शांत उपदेश मात्र को सुनकर समझ में आ गया कि अमुक व्यक्ति के प्रति क्रोध करना बेकार है और आपने उस क्रोध सम्बन्धी वासना को समाप्त कर दिया । इन सबको करने के लिए किसी शुद्धोपयोग का सहारा नहीं लिया गया । अपितु सामान्य विचार, समझ, भक्ति आदि के द्वारा भी वह वासना दूर कर दी गयी ।

अब प्रकृत विषय में संज्वलन की वासना अंतर्मुहूर्त से अधिक नहीं रहती याने मुनिराज अपने तत्त्व चिंतन, उपशम भाव, भक्ति, आवश्यक क्रियाओं आदि के माध्यम से किसी भी विषय सम्बन्धी वासना को अंतर्मुहूर्त से अधिक टिकने ही नहीं देते । वे इतने अधिक विचारशील होते हैं कि कषाय की वासना बनने ही नहीं देते । अब इसके लिए वे हरपल शुद्धोपयोग करते हैं यह कैसे सिद्ध होगा ! इसलिए वासना काल से शुद्धोपयोग की सिद्धि नहीं हो पाती है ।



**शंका:** मुझे ऐसा लगता है कि मुनिराज के भेदज्ञान की प्रचुरता के कारण वह कुछ क्षण के लिए भी किसी भी शारीरिक अवस्था में आत्मानुभव कर सकते हैं। वैसे भी उनकी प्रत्येक क्रिया के प्रारम्भ और अंत में कायोत्सर्ग होता है।

**समाधान:** भेदज्ञान की प्रचुरता होने पर भी आत्मानुभव सरल बात नहीं है। ऐसा नहीं कि बिना कुछ विशेष कार्य किये बस आत्मानुभव होता जा रहा है। हर कोई कार्य करते हुए हर व्यक्ति को आत्मानुभव जैसी सूक्ष्म क्रिया बनती हो ऐसा आगम, अनुमान और तर्क से सिद्ध नहीं हो पाता। इसलिए जैसा प्ररूपण किया जाता है कि प्रत्येक अंतर्मुहूर्त में मुनिराज को शुद्धोपयोग अथवा आत्मानुभव होता है, वैसा नहीं है।

और आपने कहा कि 'मुनिराज हर क्रिया के प्रारंभ और अंत में कायोत्सर्ग करते हैं।' यह सत्य बात है लेकिन क्यों किया जाता है? क्योंकि उस क्रिया में मग्न होने पर आत्मानुभव से च्युत हुए, तो पुनः प्रयास किया जाए कि वह स्व-संवेदन उत्पन्न हो। जिस क्रिया के पहले और पश्चात् कायोत्सर्ग किया जाता है, वह क्रिया भी कोई थोड़ी-सी देर की नहीं होती। जैसे स्वाध्याय है, तो वह कोई 2-4 मिनट तो किया नहीं जाता। उसमें निरंतरता रहती है। प्रतिक्रमण, स्तुति आदि भी हैं, तो उसे भी करने में 5-10 मिनट तो आराम से हो ही जाते हैं। आप प्रतिक्रमण पाठ आदि एवं उनकी क्रियाओं के करने के तरीके को देख सकते हैं जिससे इसकी सिद्धि हो जायेगी। तो उतने समय के दौरान जहाँ उन आवश्यक कार्यों में चित्त दिया है, वहाँ हर दिन कायोत्सर्ग में आप शुद्धोपयोग को मानें यह बन नहीं पाता। शुद्धोपयोग कोई खेल नहीं है कि बस आँखें बंद करी और हो गया। जरा सोचिये कि जिस शुद्धोपयोग के द्वारा कोटि-कोटि कर्म निर्जरित हो जाते हैं वह यदि पल-पल में होता रहा तो फिर इतने वर्षों

तक मुनि अवस्था होने का मतलब ही क्या रह गया? इसकी चर्चा थोड़े आगे करते हैं।

**शंका:** ऐसा भी तो हो सकता है कि वह शुद्धोपयोग कुछ क्षण को कर लें और बाह्य में अन्य किसी को ज्ञात न हो। वैसे भी 7वे गुणस्थान का जघन्य समय 1 समय बताया भी गया है।

**समाधान:** शुद्धोपयोग तो वैसे भी किसी अन्य को ज्ञात नहीं होता। यहाँ अन्य के ज्ञात-अज्ञात का प्रश्न नहीं है। वस्तु-स्वरूप की अपेक्षा विचार कर रहे हैं।

अप्रमत्त अवस्था का 1 समय काल मरण की अपेक्षा है। सप्तम में मुनिराज आये और उस समय उनका मरण हो गया, तब सप्तम में जघन्य से 1 समय काल बनता है। यदि मरण नहीं होता तो सप्तम का काल जघन्य भी अंतर्मुहूर्त ही है, 1-2 समय नहीं।

**शंका** – लेकिन आहार-विहार करते, प्रवचन आदि करते भी आत्मानुभव होता रहता है। जैसा कि कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखा है –

**प्रवचनसार, गाथा 227**

जस्स अणेसणमप्पा तं पि तवो तप्पडिच्छगा समणा ।

अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा ॥२२७॥

**अर्थ:** जिसका आत्मा एषणारहित है (अर्थात् जो अनशनस्वभावी आत्मा का ज्ञाता होने से स्वभाव से ही आहार की इच्छा से रहित है) उसे वह भी तप है; (और) उसे प्राप्त करने के लिये (अनशन स्वभाव वाले आत्मा को परिपूर्णतया प्राप्त करने के लिये) प्रयत्न करने वाले श्रमणों के अन्य (स्वरूप

से पृथक्) भिक्षा एषणारहित (एषणदोष से रहित) होती है; इसलिए वे श्रमण अनाहारी हैं।

ऐसा ही आशय पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में भी दिया है। अतः 'मुनिराज निरंतर शुद्धोपयोग करते रहते हैं' – इसमें क्या बाधा है?

**समाधान** – आइये, इस गाथा के अर्थ को देखते हैं। इसमें मूल गाथा में दो बातें कही हैं – 1) मुनिराज अनशनस्वभावी आत्मा को जानते हैं – यह उनका तप है। 2) इस आत्मा की पूर्ण प्राप्ति के लिए उनकी एषणादोषरहित भिक्षा होती है। इस कारण वे मुनिराज अनाहारी हैं।

इन दोनों बातों का सद्भाव आप किस गुणस्थान में मानते हैं? प्रमत्त में अथवा अप्रमत्त में? यदि अप्रमत्त मात्र में मानते हैं तो फिर क्या प्रमत्त में वे इन दोनों गुणों से रहित होते हैं? अथवा प्रथम विशेषता अप्रमत्त में और दूसरी विशेषता प्रमत्त में? लेकिन वह भी ठीक नहीं बैठता क्योंकि क्या जब वे भिक्षा प्रवृत्ति करते हैं तब क्या अनशनस्वभावी आत्मा को भूल जाते हैं!! अतः यही कहना होगा कि ये दोनों ही बातें दोनों ही गुणस्थानों में बराबर लागू पड़ती हैं। जबकि ऐसा है तो फिर इस गाथा से अप्रमत्त में शुद्धोपयोग और प्रमत्त में शुभोपयोग की सिद्धि नहीं हो पाती।

वास्तव में यह गाथा गुणस्थान के भेद को बता ही नहीं रही। यह गाथा तो मुनिराज और उनकी भिक्षा के स्वरूप को बता रही है कि वे मुनि आत्मा को जानते हैं और उसकी प्राप्ति के लिए भिक्षा ग्रहण करते हैं। अतः आहार करते हुए भी वे अनाहारी हैं।

इसी गाथा की अमृतचंद्र आचार्य कृत टीका भी देखिये –

...ये तं स्वयमनशनस्वभावं भावयन्ति श्रमणाः

तत्प्रतिषिद्धयेचैषणादोषशून्यमन्यद्भैक्षं चरन्ति, ते किलाहरन्तोऽप्यनाहरन्त एव युक्ताहारत्वेन स्वभावपरभावप्रत्ययबन्धाभावात्साक्षादनाहारा एव भवन्ति ।...

**अर्थ:** ऐसा समझकर जो श्रमण (१) आत्मा को स्वयं अनशन स्वभाव भाते हैं और (२) उसकी सिद्धि के लिये (पूर्ण प्राप्ति के लिये) एषणादोषशून्य ऐसी अन्य (पररूप) भिक्षा आचरते हैं; वे आहार करते हुए भी मानों आहार नहीं करते हों—ऐसे होने से साक्षात् अनाहारी ही हैं, क्योंकि युक्ताहारीपने के कारण उनके स्वभाव तथा परभाव के निमित्त से बन्ध नहीं होता।

अर्थात् आत्मा को जानने से और उसी की सिद्धि के लिए आहार करने से वे श्रमण आहार करते हुए भी अनाहारी हैं। ना कि आहार करते-करते आत्मा का अनुभव करने से वे अनाहारी हैं।

यहाँ तक आगम में कहे हुए सप्तम की विशेषताओं के आधार से चर्चा की। अब कुछ और विचार करते हैं।

श्रीसर्वार्थसिद्धि में अधिकार 9, सूत्र 9 में शय्या परीषहजय के अंतर्गत मुनिराज की मुहूर्त प्रमाण निद्रा कही है —

**स्वाध्यायध्यानध्वश्रमपरिखेदितस्य मौहूर्तिकीं**

**खरविषमप्रचुरशर्कराकपालसंकटातिशीतोष्णेषु भूमिप्रदेशेषु निद्रामनुभवतो...**

**अर्थ:** स्वाध्याय, ध्यान और अध्वश्रम के कारण थककर जो कठोर, विषम तथा प्रचुरमात्रा में कंकड़ और खपरो के टुकड़ों से व्याप्त ऐसे अतिशीत तथा अत्युष्ण भूमिप्रदेशों में एक मुहूर्तप्रमाण निद्रा का अनुभव करता है, ....

इतनी निद्रा के काल में मुनिराज को क्या आप पूरे काल प्रमत्त ही मानते हैं अथवा अप्रमत्त भी ? यदि मात्र प्रमत्त माना जाए, तो आगम विरोध है क्योंकि प्रमत्त का काल ही अंतर्मुहूर्त है । और यदि आप अप्रमत्त भी मानते हैं और अप्रमत्त के साथ शुद्धोपयोग अनिवार्य है तो फिर उस निद्रा की स्थिति में ही शुद्धोपयोग मानना पड़ेगा । याने शुद्धोपयोग इतना सहज है इन मुनि के कि सोते-सोते भी हो रहा है । ठीक है; वह भी मान लेते हैं । तब तो ये इतने अभ्यस्त हैं स्वात्मानुभव के तब इन्हें श्रेणी मांडने में देर ही क्या लगेगी क्योंकि श्रेणी कोई अलग तो चीज है नहीं । निज आत्मा में ही लीनता श्रेणी कहलाती है । तो फिर जब इतना आसान है इनके लिए तो फिर बहुत जल्दी ही श्रेणी होनी चाहिए इनकी । ठीक है, थोड़ा अभ्यास चाहिये तो 1-2 दिन, महीने दे देते हैं । अरे 1-2 वर्ष ले लो, बस, ठीक है !! लेकिन आप आगम देखो, सामायिक संयम का उत्कृष्ट काल कितना दिया है ?

**षट्खंडागम पुस्तक 7, पृष्ठ 167:**

**सामाहय-छेदोवट्टावणसुद्धिसंजदा केवचिरं कालादो होंति? ॥150 ॥**

**जहण्णेण एगसमओ ॥ 151॥ उक्कस्सेण पुव्वकोडी देसूणा ॥152॥**

**अर्थ: जीव सामायिक-छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयत कितने काल तक रहते हैं ? कम से कम एक समय तक जीव सामायिक-छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयत रहते हैं । अधिक से अधिक कुछ कम पूर्वकोटि वर्षप्रमाण काल तक जीव सामायिक-छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयत रहते हैं ।**

8 वर्ष कम एक कोटि पूर्व याने 70,56,000 करोड़ × 1 करोड़ वर्ष याने लाखों कोड़ाकोड़ी वर्ष । क्या आप विचार करेंगे कि यह कितना लम्बा समय है ? और एक जीव इतने दीर्घ काल तक मात्र 6-7 में ही झूल रहा है । वह

शुद्धोपयोग में इतना माहिर है कि सोते-सोते भी कर लेता है, परन्तु फिर भी इतने लम्बे समय तक 6-7 में ही अटका है, उसकी उन्नति श्रेणी में नहीं हो पा रही । ऐसा एक भी लोक में व्यक्ति नहीं मिलेगा जो अपने कार्य में इतना माहिर हो कि सोते-सोते भी अपना कार्य कर ले और उसे 1 पॉइंट आगे बढ़ने में करोड़ों वर्ष लग जाएँ ! और श्रेणी का काल कोई घंटों का तो है नहीं कि सप्तम में तो थोड़ा समय रहते हैं और श्रेणी तो लम्बा समय है तो वह नहीं हो पायेगा । श्रेणी भी अंतर्मुहूर्त का ही काल है । तो फिर शुद्धोपयोग के इतने अभ्यस्त जीव कैसे श्रेणी नहीं चढ़ पाते यह मेरी समझ से तो परे है ।

**शंका:** निद्रा खुद एक प्रमाद है। तो फिर एक मुहूर्त निद्रा के काल में अप्रमत्त दशा कैसे हो पायेगी? निद्रा की अवस्था में धर्म-ध्यान कैसे हो पाएगा?

**समाधान:** निद्रा के पांच प्रकार हैं । उनमें से स्त्यानगृद्धि आदि 3 निद्राएं तीव्र हैं और निद्रा, प्रचला ये दो निद्राएँ हलकी हैं । अल्प निद्रा के काल में अप्रमत्त अवस्था पायी जा सकती है । निद्रा, प्रचला की उदय व्युच्छित्ति 12वे गुणस्थान में होती है । इसका तात्पर्य यह निकला कि यद्यपि निद्रा प्रमाद है तथापि तीव्र निद्रा को ही प्रमाद में गिना है । जैसे कि कषाय प्रमाद है पर तीव्र कषाय ही प्रमाद है, मंद कषाय नहीं । अन्यथा जैसे कषाय 10वे गुणस्थान तक रहती है प्रमाद भी वहाँ तक मानने चाहिए पर प्रमाद मात्र प्रमत्तसंयत तक ही माने जाते हैं ।

दूसरा प्रश्न —आहार करते-करते भी प्रत्येक मुनिराज के सप्तम होता है ऐसा सभी मानते हैं । और सप्तम में शुद्धोपयोग मानने वाले आहार करते-करते भी शुद्धोपयोग मानते हैं तो क्या आत्मा का रस तत्काल आते-आते ही वे इतने आसक्त हो जाते हैं कि आहार भी कर लेते हैं और शुद्धोपयोग भी !! क्या यह

बहुत विचारणीय नहीं है। हमने तो यह सुना है *जब निज आत्म अनुभव आवे और कछु ना सुहावे*। अरे! एक सामान्य व्यक्ति को भी जब आत्मानुभव होता है, तो वह विचित्र हो जाता है, उसकी स्थिति निराली हो जाती है उस काल के दौरान। तो फिर पल-पल आत्मानुभव करने वाले आहार को ले पायें, चबा पायें — यह होना ही संभव नहीं है। आत्मानुभव की स्थिति बहुत पवित्र है, अद्भुत है। वह आत्मानुभवी कहाँ इन पुद्गल के टुकड़ों को ग्रहण कर सके। विचार तो कीजिये। और फिर इसी शुद्धोपयोग की विशुद्धि बढ़कर श्रेणी आरोहण भी हो जाना चाहिए। हर किसी को नहीं होगा, परन्तु अनंत अनंत काल में एक-दो तो उदाहरण मिलेंगे जहाँ इतनी वीतरागता बढ़ी आहार के दौरान ही कि श्रेणी पर आरोहण हो गया। लेकिन दिगंबर धर्म में तो ऐसी अटपटी बातों को कोई स्थान नहीं है। श्वेताम्बर मत में जरूर इस प्रकार की विचित्र बातें कही गयी हैं। क्या हम उन सभी बातों को स्वीकार कर लें।

तीसरा प्रश्न — क्या आत्मानुभव सूक्ष्म कार्य है या स्थूल कार्य है? यदि स्थूल है तो फिर अंतर्मुहूर्त ही क्यों, लम्बा ही कर दीया जाए ना उसका काल! और यदि सूक्ष्म है तो बाकि कार्यों याने विहार, निहार, उपदेश, शास्त्र लेखन आदि कार्य बनना असंभव हैं। आप स्वयं एक बार विचार और प्रयोग करके देखो कि यदि हम आत्मानुभव करने बैठे हैं तो कोई अन्य कार्य कैसे और कितनी तत्परता से कर सकते हैं। एक पल अन्दर और एक पल में बाहर आकर बोलने लगे, जहाँ जो शब्द छोड़ा था वही वहाँ पूरा कर दिया? जब उस वाक्य को बोलने/लिखने का विकल्प बना हुआ है तो फिर अनुभव कहाँ और अनुभव है तो फिर वह विकल्प कहाँ जो उसे बाहर आकर तत्काल पूरा कर दें। ऐसे सभी क्रियाओं पर लगाना। यह कह देना बहुत सरल है कि उनके सब

कार्य सहज होते हुए शुद्धोपयोग या आत्मानुभव हो जाता है। क्या किसी ने ऐसा होते हुए देखा भी है? देखने जाते हैं तो मिलता नहीं है। **वास्तविकता के धरातल पर आकर देखना चाहिए कि कैसे संभव हो सकता है।**

प्रवचनसारजी में आचार्य कुन्दकुन्द देव ने गाथा 245 में लिखा है कि श्रमण दो प्रकार के होते हैं — शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी। इनमें से शुद्धोपयोगी निरास्रव हैं और शुभोपयोगी आस्रव-सहित हैं। इस गाथा की टीका में कहीं भी यह नहीं दिया है कि प्रमत्त मुनि सास्रव होते हैं और अप्रमत्त निरास्रव। बल्कि अमृतचन्द्र आचार्य देव ने यह कहा है कि शुभोपयोगी शुद्धोपयोग के उपकंठ निवास कर रहे हैं, शुद्धोपयोग-भूमिका में आरोहण करने को असमर्थ हैं वे भी श्रमण ही हैं। आप विचार कीजिये 'जो शुद्धोपयोग प्राप्त करने में समर्थ नहीं हैं' ऐसा वाक्य क्या हर अंतर्मुहूर्त में शुद्धोपयोग प्राप्त करने वाले के लिए लिखा जाएगा? जब सप्तम षष्ठम का काल ही अंतर्मुहूर्त है और इस काल में श्रेणी चढ़ना संभव नहीं है तो क्या आचार्य देव अपने मुनिराजों को इतना हतोत्साहित करेंगे कि ये शुद्धोपयोग प्राप्त करने में समर्थ नहीं हैं, श्रेणी इनके बस की नहीं है। ऐसा तो संभव नहीं है। तो यहाँ फिर उन्हें असमर्थ क्यों कहा है? इसलिए कहा है कि जो मुनि षष्ठम और सप्तम में रहते हैं परन्तु हर बार शुद्धोपयोग प्राप्त नहीं कर पाते, वे शुद्धोपयोग की तलहटी में हैं, परन्तु प्रयास करते हैं सप्तम में आ-आकर। जब शुद्धोपयोग हो जाता है, तब वे शुद्धोपयोगी बन जाते हैं और जब नहीं हो पाता है तो वे श्रमण तो बने रहते हैं परन्तु शुद्धोपयोगी नहीं बन पाते। ऐसे जीवों की स्थिति को आचार्य देव ने स्पष्ट किया है।

इसी को स्पष्ट करते हुए आगे गाथा 248 में आचार्य जयसेन देव ने लिखा है कि

ननु शुभोपयोगिनामपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावना दृश्यते, शुद्धोपयोगिनामपि क्वापि काले शुभोपयोगभावना दृश्यते, श्रावकाणामपि सामायिकादिकाले शुद्धभावना दृश्यते, तेषां कथं विशेषो भेदो ज्ञायत इति। परिहारमाह— युक्तमुक्तं भवता, परं किंतु ये प्रचुरेण शुभोपयोगेन वर्तन्ते ते यद्यपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावनां कुर्वन्ति तथापि शुभोपयोगिन एव भण्यन्ते। येऽपि शुद्धोपयोगिनस्ते यद्यपि क्वापि काले शुभोपयोगेन वर्तन्ते तथापि शुद्धोपयोगिन एव। कस्मात्। बहुपदस्य प्रधानत्वादाप्रवननिम्बवनवदिति ।

इसका संक्षेप में अर्थ है कि शुभोपयोगी के भी कभी-कभी शुद्धोपयोग होता है तो फिर उसे शुभोपयोगी ही क्यों कहते हैं? तो कहा प्रधानता से उसके शुभोपयोग है अतः शुभोपयोगी कहलाता है। ऐसे शुभोपयोगी के भी किसी काल में शुद्धोपयोग पाया जाता है। याने शुभोपयोगी श्रमण के कदाचित् शुद्धोपयोग पाया जाता है, बारम्बार नहीं। और ऐसा होते हुए भी वे श्रमण ही हैं, श्रमणाभास नहीं। और कोई ऐसे भी श्रमण हैं जिनके शुद्धोपयोग की प्रधानता है, उनके शीघ्र-शीघ्र शुद्धोपयोग होता है, शुभोपयोग कम होता है तो उन्हें शुद्धोपयोगी कहा है। यह टीका श्रमण के स्वरूप को स्पष्ट कर देती है।

इस पूरे प्रकरण में यह ध्यान रहे कि हम 'मुनिराज के शुद्धोपयोग नहीं होता है और बिना उसके ही मुनि अवस्था होती है' — यह नहीं कह रहे हैं। हमारा वक्तव्य बस इतना है कि सप्तम गुणस्थान का जो स्वरूप ध्यान-मात्र अथवा शुद्धोपयोग मात्र प्रचलित है, वह ठीक नहीं है। उत्तम अवस्था में सप्तम में शुद्धोपयोग / आत्मानुभव बनता ही है। सारा मुनि जीवन ही शुद्धोपयोग के लिए है, वह तो मुनि अवस्था का प्राण है। मुनिराज भी उसके लिए सतत प्रयत्नशील रहते हैं और उन्हें अन्य गृहस्थ अथवा संयतासंयत की अपेक्षा शीघ्र

प्राप्त भी होता है, परन्तु इतना होने से वह हर अंतर्मुहूर्त में मुनिराज को प्राप्त होता है ऐसा नहीं है।

हम जिस प्रकार से सप्तम गुणस्थान को देख रहे हैं उसके कारण तो साक्षात् कुन्दकुन्द भगवंत भी आये जाएँ, तो वे भी हमें मुनिरूप में स्वीकार ना होंगे। इसलिए सुनी हुई बातों की अपेक्षा आगमिक बातों का श्रद्धान करना चाहिए।

इन सब बातों का सारांश यह है कि अप्रमत्त अवस्था का जो शुद्धोपयोग मात्र स्वरूप माना जाता है वह ठीक नहीं है। अप्रमत्त अवस्था में शुद्धोपयोग पाया जाता है, परन्तु वह किसी जीव को शीघ्र होता है किसी जीव को लम्बे काल पश्चात् होता है। परन्तु उसके काल के कारण उस जीव का मुनिपना भ्रष्ट नहीं हो जाता। हर अंतर्मुहूर्त में किसी विरले जीव को अल्प काल के लिये शुद्धोपयोग बन सकता है, हर जीव को नहीं। अतः 'अप्रमत्त अवस्था में आत्मानुभव करते हैं' — यह कथन उत्कृष्ट स्वरूप की अपेक्षा तो कदाचित् बन सकता है परन्तु लक्षण नहीं बनाया जा सकता।

**शंका** — हम उत्कृष्ट अवस्था की अपेक्षा ही अप्रमत्त अवस्था में शुद्धोपयोग कह रहे हैं। तब तो ठीक है ?

**समाधान** — वह तब ठीक हो जब अप्रमत्त गुणस्थान के मध्यम और जघन्य स्वरूप भी चित्त में स्थिर हों एवं उपर्युक्त सारे व्याख्यान को समीचीन माना जाए कि अप्रमत्त में मात्र शुभोपयोग भी पाया जाता है जिसके रहते मुनिपना समाप्त नहीं हो जाता; अप्रमत्त अवस्था मात्र शुद्धोपयोगरूप ही नहीं है, उसमें शुभोपयोग भी बन सकता है। लेकिन ऐसा नहीं माना जाता और ना ही ऐसा आप व्याख्यान भी करते हैं तो कैसे माना जाए कि आप मात्र उत्कृष्ट अपेक्षा से कह

रहे हैं। ऐसा लगता है जैसे इसका स्वरूप एकांतरूप से ही ग्रहण किया है अभी तक।

**शंका** — यदि मात्र उत्कृष्ट रूप से ही हम इसका स्वरूप मानें तो क्या नुक्सान है? आखिर आना तो हमें शुद्धोपयोग में ही है। वह ही मोक्षमार्ग है।

**समाधान** — शुद्धोपयोग मोक्षमार्ग है और हमारा लक्ष्य है — यह तो ठीक बात है। लेकिन ऐसा भर होने से क्या हम वस्तु-स्वरूप को ही बदल देंगे? ऐसा होने से क्या देशसंयत आदि में भी मात्र शुद्धोपयोग कहने लग जायेंगे क्योंकि वह ही तो हमारा लक्ष्य है! ऐसा करना तो ठीक नहीं होगा।

और इसके नुक्सान बहुत सारे हैं। सबसे पहले तो हमारे ऊपर ही सबसे बड़ी हानि है कि हम जब ऐसा मानते हैं कि सप्तम गुणस्थान में शुद्धोपयोग मात्र है तब जब हम स्वयं मुनि अवस्था धारण करेंगे और इस प्रकार शुद्धोपयोग नहीं हो पायेगा, तो हताशा हाथ में आएगी क्योंकि जैसा हम मुनि अवस्था को मानते हैं वैसा हम हो नहीं पा रहे। तब मुनि होकर भी स्वयं को निम्न गुणस्थानवर्ती अथवा मिथ्यादृष्टि मानते रहेंगे। यह क्या कम नुक्सान है?

इससे भी बड़ा नुक्सान यह है कि मुनि बनने के पहले ही जब हम किसी भी मुनिराज को देखेंगे तो जैसा हमने मान रखा है वैसा मुनि मात्र-शुद्धोपयोगी तो मिल नहीं पायेंगे। तब हमारे चित्त में यह धारणा बहुत जल्दी घर कर लेगी कि वर्तमान में मुनि होना संभव ही नहीं है, कोई भी मुनि नहीं हो सकता क्योंकि इतने मुनियों में भी कोई मुनि शुद्धोपयोगी दिखाई नहीं दे रहा। तो जब ये नहीं बन पा रहे, तो हम कैसे बन जायेंगे। याने 1) वर्तमान में कोई भी मुनि सच्चा है ही नहीं। 2) ऐसा शुद्धोपयोगी होना भी संभव नहीं। 3) जब इतने पुरुषार्थी

जीव मुनि नहीं हो पा रहे, तो मैं कैसे बन सकता हूँ। ऐसे भाव श्रद्धान में बैठ जाते हैं और इसका क्या नुक्सान है यह बताने की जरूरत नहीं!

ऐसा मानने से और भी नुक्सान यह है कि आचार्य कुन्दकुन्द जैसे मुनिराज भी हमारे सामने आ जाएँ तो हम उन्हें भी मुनि मानने तैयार नहीं हों क्योंकि जब वे हर सेकंड में शुद्धोपयोगी नहीं दिखाई दें, ना ही वैसी प्ररूपणा करें, तो हमारे चित्त में उनके प्रति प्रश्न-चिह्न लगे बिना नहीं रहेगा। ऐसे में हमने अपने गुरु को ही खो दिया। हमारी सम्यक्त की श्रद्धा देव-शास्त्र-गुरु से प्रारंभ होती है वह ही खतम हो गयी।

साथ ही नुक्सान यह है कि ऐसे में केवल वर्तमान ही क्या, प्राचीन आचार्यों पर भी प्रश्न-चिह्न लग जाता है। क्या वे हर अंतर्मुहूर्त में शुद्धोपयोग करते थे। और यदि नहीं कर पाते थे, तो फिर उन्हें हम आचार्य कैसे मानें और उनके ग्रन्थ भी प्रमाण कैसे मानें?

आप कभी विचार तो करो कि जब आचार्य अकलंक देव 6 महीने तक बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ करते थे तब पूरे दिन भर चर्चा चलती थी। आचार्य भगवान् का पूरा समय उस चर्चा को सुनने और उसका उत्तर देने में जाता था। उस दौरान भी उनके अप्रमत्त अवस्था बनती थी तो क्या वे शुद्धोपयोग को प्राप्त करते थे! जहाँ पूरा उपयोग शास्त्रार्थ में लगा है, जैन शासन की रक्षा में कोई कसर बाकी न रह जाए ऐसी भावना में लगा है, पूरे मनोयोग से वस्तु-व्यवस्था सिद्ध करने में बुद्धि का व्यापार हो रहा है ऐसे समय में अंतर्मुख होकर निज आत्मा का स्वानुभव कैसे संभव है, वह भी हर अंतर्मुहूर्त में!! आप गहराई से इसकी प्रायोगिकता पर विचार कीजिये। अरे, उस काल में तो आचार्य भगवान् का उपयोग जैन शासन की सिद्धि, प्रामाणिकता पर लगा हुआ था।

एक चूक भी आगामी काल पर भारी पड़नी थी । उस शास्त्रार्थ के दौरान ही संज्वलन के तीव्र उदय में प्रमत्तसंयत और मंद उदय में अप्रमत्तसंयत ऐसी दोनों अवस्थाओं में वे आचार्य देव झूलते थे । इस प्रकार उनका मुनिपना सम्पूर्ण काल में बना रहा ।

कभी और भी विचार करो आचार्य वीरसेन स्वामी का जिन्होंने धवल-जयधवल टीकाओं को रचा । उनका प्रमाण देखकर ही आप दंग रह जायेंगे । आचार्य वीरसेन स्वामी द्वारा कुल 92000 श्लोक प्रमाण टीका लिखी गयी है । धवल भाग 1 की प्रस्तावना पृष्ठ 36 में प. हीरालालजी जैन ने लिखा है कि पूरे इतिहास में एक व्यक्ति के द्वारा इतना साहित्य नहीं लिखा गया । और वह इतना जटिल है कि उसे समझने में भारी बुद्धि-व्यवसाय चाहिए । ऐसे शास्त्र लिखने के पहले उन्होंने स्वयं कितने शास्त्रों का अध्ययन किया होगा, उपलब्ध सारी षट्खंडागम की टीकाओं को गहराई से अध्ययन किया होगा । मात्र षट्खंडागम ही नहीं; सिद्धांत, न्याय, आगम, अध्यात्म, चरणानुयोग, चारित्र, पुराण, व्याकरण, छंद आदि का भी खूब अभ्यास किया था यह उनकी टीका से भलीभांति ज्ञात होता है । अब इतना सब अध्ययन करने और टीका लिखने में उनका कितना समय व्यतीत हुआ होगा । उसमें हर अंतर्मुहूर्त में शुद्धोपयोग का व्याख्यान आप कैसे कर पायेंगे ? और आपके अनुसार यदि शुद्धोपयोग नहीं कर पाए तो फिर वे मुनि ही नहीं रह पायेंगे । इसलिए भाई, उनके यथायोग्य शुद्धोपयोग वर्तता था और उस शुद्धोपयोग की साधना करते हुए उन्होंने इस सारे साहित्य का सृजन किया । उस पूरे काल के दौरान वे संज्वलन के तीव्र-मंद उदय में प्रमत्त-अप्रमत्त अवस्था में बने रहे ।

ऐसे और भी इतिहास-प्रसिद्ध आचार्य, मुनिगण हुए हैं जिनका जीवन स्व-पर उपकार में गया है । वे हर मुनिराज यथायोग्य शुद्धोपयोग के साथ शुभोपयोगी रहते थे । और शुभोपयोगी रहने से उनका मुनिपना समाप्त नहीं हो गया था ।

**शंका** – यदि अप्रमत्तसंयत में मात्र शुद्धोपयोग और प्रमत्तसंयत में मात्र शुभोपयोग नहीं मानते हैं, तो फिर इन दोनों का अंतर ही क्या रहेगा?

**समाधान** – इन दोनों में अंतर शुद्ध-शुभ उपयोग का नहीं है जैसा कि प्रारंभ में आगम प्रमाण से दर्शाया है । इनके लक्षण को बताते हुए गोम्मटसारजी में कहा है कि जहाँ 3 कषायों के अनुदय के साथ संज्वलन कषाय के तीव्र उदय हैं, वहाँ प्रमत्तसंयत दशा है । जहाँ 3 कषायों के अनुदय के साथ संज्वलन कषाय के मंद उदय हैं, वहाँ अप्रमत्तसंयत दशा है । इससे स्पष्ट होता है कि दोनों गुणस्थानों का अंतर तीव्र-मंद उदय की अपेक्षा है । कषाय का मंद उदय होने पर शुद्धोपयोग ही, ऐसा नियम नहीं है । जब शुद्धोपयोग अप्रमत्त दशा में होता है तब संज्वलन कषाय मंद रहती है । पर कषाय मंद रहती है, तब शुद्धोपयोग होता ही है ऐसा नहीं है । अन्यथा पूर्व में कहे सारे दोषों का प्रसंग आएगा ।

दूसरी बात, कषाय के तीव्र-मंद उदय तो चतुर्थ, पंचम गुणस्थानों में भी लगभग हर अंतर्मुहूर्त में होते रहते हैं तो क्या वहाँ भी हर अंतर्मुहूर्त में शुद्धोपयोग या आत्मानुभव मान लेंगे!! आप कह सकते हैं कि वहाँ गुणस्थान का भेद नहीं किया है । लेकिन वहाँ भेद क्यों नहीं किया है? क्योंकि तीव्र-मंद उदय होने पर भी अप्रत्याख्यान आदि सर्वघाती कषाय मौजूद है । अतः जहाँ तक सर्वघाती कषाय का उदय विद्यमान है, वहाँ तीव्र-मंद उदय से गुणस्थान भेद नहीं किया है । परन्तु जहाँ सर्वघाती कषाय का तो अनुदय हुआ, मात्र देशघाती संज्वलन

कषाय बची, तब उस कषाय के तीव्र, मंद, मंदतर, मंदतम और सूक्ष्म भेदों को लेकर गुणस्थानों के क्रमशः प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्म-साम्पराय के भेद बने। याने तीव्र-मंद उदय से प्राप्त भेद इन दो गुणस्थानों को बनाता है। वही इन दोनों के स्वरूप में भेद डालता है। और तीव्र-मंद उदय को शुभोपयोग और शुद्धोपयोग कहना कतई ठीक नहीं है।

**शंका** — लेकिन हमने तो व्याख्यानों में ऐसा ही सुना है कि अप्रमत्त गुणस्थान में मात्र शुद्धोपयोग ही होता है।

**समाधान** — भाई, जिन्होंने ऐसा कहा उन्हें शुद्धोपयोग और मुनि अवस्था की बहुत महिमा आई तो इस प्रकार से उत्कृष्ट व्याख्यान किया। उनके चित्त में शुद्धोपयोग ही हर अवस्था में श्रेष्ठ बना रहा इसलिए इस प्रकार से आपने सुना है। परन्तु महिमा करना अलग बात है और सैद्धांतिक बात अलग है। कई बार उपदेश में बहुमान में ऐसी बात हो जाती है जो प्रायोगिक एवं सैद्धान्तिक नहीं रहती, परन्तु प्रेरणा के लिए कही जाती है। उसका उतना ही उद्देश्य समझना। आप पूरे आगम, तर्क और इतिहास को सामने रखेंगे तो वस्तु-स्वरूप स्पष्ट हो जायेगा।

यह ध्यान रहे कि यह पूरा व्याख्यान किसी को गलत अथवा सही साबित करने के लिए नहीं लिखा गया है। इसका एकमात्र उद्देश्य विपरीत स्वरूप का निराकरण और समीचीन ज्ञान-श्रद्धान होने का है। हम सभी अल्प-ज्ञानी हैं इसलिए ज्ञान-श्रद्धान में भूल हो सकती है। आवश्यकता इस बात की है कि सम्यक् तत्त्व-विचार के द्वारा उसे सुधार लिया जाए।

- विकास जैन (छाबड़ा), इंदौर

7000676108, vikasnd@gmail.com



## अप्रमत्त गुणस्थान में शुभोपयोग और शुद्धोपयोग

पूर्व में अप्रमत्त गुणस्थान के स्वरूप के बारे में लेख लिखा गया था (जो कि अब पूर्व पृष्ठों में ही समाहित हो गया है) जिसमें आगम-आधार से यह पता चलता है कि

1. अप्रमत्त गुणस्थान में मात्र आत्मानुभवरूप शुद्धोपयोग ही पाया जाए — ऐसा नहीं है ।
2. प्रमत्त गुणस्थान में मात्र शुभोपयोग ही पाया जाता है – ऐसा भी नहीं है ।
3. अप्रमत्त और प्रमत्त दोनों ही गुणस्थानों में आत्मानुभवरूप शुद्धोपयोग संभव है ।
4. हर अंतर्मुहूर्त में मुनिराज को सातवाँ-छठा गुणस्थान होता है पर हर अंतर्मुहूर्त में आत्मानुभव होवे ही – ऐसा आवश्यक नहीं है ।

इसी विषय को लेकर अनेक शंका साधर्मिजनों, विद्वत्वरग में हुई थी जिनका निराकरण व्यक्तिगत रूप से किया गया था । सभी साधर्मियों के शंका निवारण हेतु वे सब शंका समाधान इस लेख में प्रस्तुत किये जा रहे हैं । इस लेख को पढ़ने के पूर्व प्रथम लेख पढ़ना आवश्यक है अन्यथा इसका विषय समझ नहीं आ पाएगा ।

**शंका:** प्रवचनसार गाथा 222 की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र देव ने लिखा है कि आहार-विहार आदि में शुद्धोपयोग होता ही है । देखिये:

जो उपधि अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होती वह छेद है । किन्तु यह (संयम की बाह्यसाधनमात्रभूत उपधि) तो श्रामण्यपर्याय की सहकारी कारणभूत शरीर की वृत्ति के हेतुभूत आहार-नीहारादि के ग्रहण-विसर्जन (ग्रहण-त्याग) संबंधी छेद के निषेधार्थ ग्रहण की जाने से **सर्वथा शुद्धोपयोग सहित है**, इसलिये छेद के निषेधरूप ही है ॥२२२॥

अतः सप्तम गुणस्थान में शुद्धोपयोग होता ही है । उसके बिना सप्तम गुणस्थान नहीं होता ।

**उत्तर:** यहाँ टीका में सन्दर्भ क्या है पहले यह देखना चाहिए । गाथा 221 में यह कहा है कि उपधि स्वीकार करने योग्य नहीं है, उससे तो श्रामण्य पर्याय का छेद ही होता है । यथा —

**टीका:** ...ऐकान्तिकान्तरंगच्छेदत्वमुपधेरवधार्यत एव । इदमत्र तात्पर्यमेवंविधत्व-मुपधेरवधार्य स सर्वथा संन्यस्तव्यः ।

**अर्थ:** यहाँ यह तात्पर्य है कि उपधि ऐसी है, (परिग्रह वह अन्तरंग छेद ही है), ऐसा निश्चित करके उसे सर्वथा छोड़ना चाहिये ।

यदि ऐसा है तो प्रश्न होता है कि दिगंबर श्रमण के कुछ उपधि तो पायी जाती है जैसे पिच्छि, कमण्डलु आदि । तो उनके श्रमणपना कैसे रहेगा । तब उसके उत्तर में आचार्य देव ने गाथा 222 से 224 लिखी है । इसमें “श्रमण के कौन-

सी उपधि हो सकती है और क्यों?” इसका विवेचन किया है। गाथा 222 टीका में आचार्य देव ने कहा कि

**टीका:** आत्मद्रव्यस्य द्वितीयपुद्गलद्रव्याभावात्सर्व एवोपधिः प्रतिषिद्ध इत्युत्सर्गः । अयं तु विशिष्टकालक्षेत्रवशात्कश्चिदप्रतिषिद्ध इत्यपवादः ।

**अर्थ:** आत्मद्रव्य के द्वितीय पुद्गलद्रव्य का अभाव होने से समस्त ही उपधि निषिद्ध है—ऐसा उत्सर्ग (सामान्य नियम) है; और विशिष्ट काल, क्षेत्र के वश कोई उपधि अनिषिद्ध है—ऐसा अपवाद है ।

अर्थात् सर्व ही उपधि निषिद्ध है परन्तु इसका अपवाद भी है । उस अपवाद का कोई दुरुपयोग ना कर ले इसके लिए स्पष्ट किया कि जो उपधि श्रामण्यपर्याय की सहकारी कारणभूत शरीर की वृत्ति के लिए है, वह छेद के निषेध के लिए है याने वह शुद्धोपयोग का साधन बनी हुई है । इसलिए इस उपधि को स्वीकारा जाता है । और उसके स्वीकार करने पर भी श्रमणता खंडित नहीं होती क्योंकि उस उपधि के सद्भाव में छेद का अभाव पाया जाता है । इसी बात को आचार्य देव ने अंत में इन शब्दों में कहा है

**टीका:** अयं तु श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणशरीर-वृत्तिहेतुभूताहारनिर्हारादि-ग्रहणविसर्जनविषयच्छेदप्रतिषेधार्थमुपादीयमानः सर्वथा शुद्धोपयोगाविनाभूतत्वा-च्छेदप्रतिषेध एव स्यात् ।

**अर्थ:** यह (संयम की बाह्यसाधनमात्रभूत उपधि) तो श्रामण्यपर्याय की सहकारी कारणभूत शरीर की वृत्ति के हेतुभूत आहार-नीहारादि के ग्रहण-विसर्जन (ग्रहण-त्याग) संबंधी छेद के निषेधार्थ ग्रहण की जाने से सर्वथा शुद्धोपयोग सहित है, इसलिये छेद के निषेधरूप ही है ॥२२२॥

इस पूरे प्रकरण में कहीं भी आचार्य देव ने यह सिद्ध नहीं किया है कि सप्तम गुणस्थान में शुद्धोपयोग होता ही है । इस प्रकरण का शुद्धोपयोग और गुणस्थान से कोई सम्बन्ध भी नहीं है । यहाँ तो श्रमण के किंचित् उपधि होती है, उपधि का सद्भाव होने पर भी शुद्धोपयोग होता है, श्रमणता खंडित नहीं होती यह सिद्ध करना है ।

यहाँ जो शब्द “सर्वथा शुद्धोपयोग सहित” है उससे यदि यह अर्थ निकालना चाहेंगे कि श्रमण के सर्वथा शुद्धोपयोग ही पाया जाता है तो सप्तम में ही क्या; छठे में भी सर्वथा शुद्धोपयोग ही पाया जायेगा क्योंकि उपधि का सद्भाव, आहार-नीहार आदि तो दोनों ही गुणस्थान में पाया जा रहा है । ऐसी स्थिति में शुभोपयोग तो मुनि जीवन में असंभव ही बन गया । क्या यह स्वीकार हो सकता है !! अतः एक शब्द मात्र को पकड़ कर अर्थ नहीं कर सकते हैं । पूर्वापर से देखकर पढ़ने पर अर्थ समीचीन बनता है ।

यह टीका उनके लिए प्रमाण के रूप में उपयोगी है जो यत्किंचित् उपधि होने पर श्रमणता नहीं मानते अथवा जो मुनि जीवन में शुद्धोपयोग स्वीकारते ही नहीं हैं, मात्र शुभोपयोग मानते हैं । लेकिन हमारा यह मंतव्य नहीं है कि छठवे सातवे में शुद्धोपयोग नहीं पाया जाता । वह तो पाया ही जाता है, पर हर बार सप्तम गुणस्थान शुद्धोपयोग के सान्निध्य में ही हो यह आगमिक नहीं है ।

**शंका:** शुद्धोपयोग एवं आत्मानुभूति एकार्थक भी हैं और कथंचित् भेद भी है। जहाँ-जहाँ आत्मानुभूति है, वहाँ-वहाँ द्रव्यानुयोग अपेक्षा शुद्धोपयोग अवश्य है, परन्तु जहाँ-जहाँ शुद्धोपयोग है, वहाँ-वहाँ द्रव्यानुयोग अपेक्षा आत्मानुभूति है भी

और नहीं भी; क्योंकि परद्रव्य-गुण-पर्याय का भी यदि बुद्धिपूर्वक रागादि रहित चिन्तवन है तो वह भी शुद्धोपयोग ही कहलाता है।

तथा यदि रागादि रहित शुद्धोपयोग में भी वीतरागता के आनन्द भोगने को अनुभूति कहा जाए तो वहाँ भी आत्मानुभूति है। इसप्रकार इनकी एकार्थकता भी मानी जा सकती है।

**करणानुयोग अपेक्षा** तो जहाँ तक कषायांश का भी सद्भाव है, वहाँ तक पूर्णता नहीं होने से पूर्ण शुद्धोपयोग नहीं है।

**समाधान:** जो इस प्रकार आपने पर-द्रव्य-गुण आदि चिंतन को शुद्धोपयोग और उसी को आत्मानुभूति भी माना है, वह कौन-सा ध्यान कहलाता है? आगम में इस प्रकार के ध्यान को शुक्ल ध्यान कहा जाता है। यह शुक्ल ध्यान श्रेणी के गुणस्थानों में है, उसके पहले नहीं। इसके पहले तो धर्म ध्यान पाया जाता है। और धर्म ध्यान शुभ और शुद्धरूप होता है। वहाँ निर्विकल्प आत्म-अनुभवरूप स्थिति को आचार्यों ने शुद्धोपयोग कहा है और उसके अलावा जो स्थिति है वह शुभरूप धर्म ध्यान है। आप उपर्युक्त चर्चा के द्वारा शुक्ल ध्यान वाले शुद्धोपयोग को नीचे के गुणस्थान में बताना चाहते हैं जो स्पष्टतः विपरीत है !

इस सम्पूर्ण लेख में करणानुयोग की अपेक्षा शुद्धोपयोग की तो चर्चा ही नहीं की है। अतः वह तो यहाँ अविवक्षित है। इस लेख में जिसे द्रव्यानुयोग में निचली भूमिका में शुद्धोपयोग कहा जाता है, उसी अपेक्षा वर्णन चल रहा है। अन्यथा चतुर्थ, पंचम में जो **यथायोग्य** शुद्धोपयोग कहा है वह भी घटित नहीं होता है।

**द्रव्यानुयोग** (समयसार, प्रवचनसार, द्रव्य-संग्रह आदि) में जब-जब शुद्धोपयोग की चर्चा होती है तो उसका तात्पर्य आत्म-ध्यान / आत्म-अनुभव से होता है; ना कि किसी भी वस्तु के रागादिरहित ज्ञान या संवेदन से। द्रव्यानुयोग में जो शुद्धोपयोग आचार्यों ने दर्शाया है उसमें स्व-द्रव्य के अनुभव / तन्मयता / उपलब्धि / प्राप्ति का उपदेश है। देखिये समयसार २०६, ४१५; प्रवचनसार गाथा १५९, १९४, १९५; द्रव्य-संग्रह गाथा ५६ आदि।

#### समयसार

एदमिह रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदमिह ।

एदेण होहि तित्ते होहदि तुह उत्तमं सोक्खं ॥२०६॥

**अर्थ:** इस ज्ञान में सदा रुचि से लीन होओ और सदा इसी में संतुष्ट होओ और इसी से तृप्त होओ; तेरे उत्तम सुख होगा।

जो समयपाहुडमिणं पढिदूणं अत्थतच्चदो णादुं ।

अत्थे ठाही चेदा सो होही उत्तमं सोक्खं ॥४१५॥

**अर्थ:** ज्ञायक (चेतयिता) इस समयसार को पढ़कर अर्थ और तत्त्व को जानकर अर्थ में स्थित होगा वह उत्तम सुखी होगा।

#### प्रवचनसार

असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्ते ण अण्णदवियमिह ।

होञ्जं मज्झत्थोऽहं णाणप्पगमप्पगं झाए ॥१५९॥

**अर्थ:** अन्य द्रव्य में मध्यस्थ होता हुआ मैं अशुभोपयोग रहित होता हुआ तथा शुभोपयुक्त नहीं होता हुआ ज्ञानात्मक आत्मा को ध्याता हूँ ।

जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा ।

सागारोऽणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंठि ॥194॥

**अर्थ:** जो ऐसा जानकर विशुद्धात्मा होता हुआ परम आत्मा का ध्यान करता है, वह साकार हो या अनाकार मोहदुर्ग्रंथि का क्षय करता है ।

**तात्पर्यवृत्ति टीका**

.. तेन कारणेनाशुद्धनिश्चयमध्येऽपि शुद्धात्मावलम्बनत्वात् शुद्धध्येयत्वात् शुद्धसाधकत्वाच्च शुद्धोपयोगपरिणामो लभ्यत इति...

**अर्थ:** इस कारण से अशुद्ध-निश्चय के बीच में शुद्धात्मा का अवलम्बन होने से, शुद्ध ध्येय होने से और शुद्ध का साधक होने से, शुद्धोपयोग परिणाम प्राप्त होता है ।

**द्रव्य-संग्रह**

मा चिट्ठह मा जंपह, मा चिंतह विंवि जेण होइ थिरो ।

अप्पा अप्पम्मि रओ, इणमेव परं हवे झाणं ॥५६॥

**अर्थ :** कुछ भी चेष्टा मत करो, मत बोलो और मत विचारो जिससे कि स्थिर होता हुआ आत्मा आत्मा में ही रत हो जाता है और यही उत्कृष्ट ध्यान होता है ।

इस प्रकार आगम ग्रंथों में हम देखते हैं कि आचार्य भगवंतों ने आत्मा के अनुभव के लिए ही निरंतर प्रेरणा दी है और उसे ही शुद्धात्मा का अवलम्बन होने से शुद्धोपयोग कहा है । इसलिए द्रव्यानुयोग की अपेक्षा भी 'सातवे में शुद्धोपयोग है ही' – ऐसी अनिवार्यता नहीं रहती है । पर-द्रव्य-गुण चिंतवन के समय शुद्धोपयोग नीचले सराग संयम तक के गुणस्थानों में कहीं नहीं कहा है । यदि आगम में धर्म-ध्यान के अंतर्गत पर-द्रव्य-गुण चिंतन को शुद्धोपयोग कहीं कहा हो तो कृपया बतलाएँ ।

**शंका:** मोक्षमार्ग प्रकाशक में कहा है कि परद्रव्य को जानते रहने पर भी वीतरागता होती है वहाँ निर्विकल्पता होती है । यथा –

पृष्ठ 211, राग-द्वेषवश किसी ज्ञेय को जानने में उपयोग लगाना और किसी ज्ञेय के जानने से छुड़ाना - इसप्रकार बारम्बार उपयोग को भ्रमाना - उसका नाम विकल्प है । तथा जहाँ वीतरागरूप होकर जिसे जानते हैं उसे यथार्थ जानते हैं, अन्य-अन्य ज्ञेय को जानने के अर्थ उपयोग को भ्रमाते नहीं हैं; तहाँ निर्विकल्प दशा जानना ।

इस कथन से स्पष्ट होता है कि सातवे में निर्विकल्परूप शुद्धोपयोग ही है ।

**समाधान:** प्रथम तो यह किसी गुणस्थान के स्वरूप का कथन नहीं है । यहाँ यह भी नहीं कहा है कि सातवे में मात्र निर्विकल्प दशा ही होती है ।

दूसरे, यदि उपयोग का नहीं भ्रमाना और वीतरागरूप रहना ही आपको शुद्धोपयोग कहना इष्ट है तब यह व्यवस्था तो छठे गुणस्थान में भी बन जाती है । तब फिर छठे में शुभोपयोग ही होता है ऐसा आपका कथन ठीक नहीं ठहरता है ।

तीसरी बात, जैसा की पहले भी कहा है कि 'पर-ज्ञेय को जानते हुए भी शुद्धोपयोग है' – ऐसा शुद्ध ध्यान का स्वरूप है, ना कि धर्म ध्यान का। निचली भूमिका में तो शुद्ध-नयात्मक ज्ञानानुभूति को ही शुद्धोपयोग कहा है (समयसार कलश १३)। आनंद, शुद्धोपयोग के लिए आत्मा का ध्यान करने को ही कहा जाता है। स्वयं पंडितजी ने भी कहा है कि

पृष्ठ 211-212

फिर वह कहता है - ऐसा है तो पर द्रव्य से छुड़ाकर स्वरूप में उपयोग लगाने का उपदेश किसलिये दिया है?

समाधान : जो शुभ-अशुभभावों के कारण परद्रव्य हैं; उनमें उपयोग लगाने से जिनको राग-द्वेष हो आते हैं, और स्वरूप चिंतन करें तो जिनके राग-द्वेष घटते हैं - ऐसे निचली अवस्थावाले जीवों को पूर्वोक्त उपदेश है।

याने जहाँ निचली भूमिका है वहाँ स्वरूप में ही ठहरने को कहा जाता है। जब स्वयं वीतराग हो जाता है तब स्व-द्रव्य जाना जाये या पर-द्रव्य, वीतराग बना रहता है। अर्थात् जब उपरिम श्रेणी के गुणस्थान में वीतराग हो जाए तब स्व को जानो या पर को, शुद्धोपयोग में कोई बाधा नहीं है। परन्तु इस कथन से छठे-सातवे में जब सालंब, पर-द्रव्य के गुण चिंतनरूप ध्यान होता है, उसे भी शुद्धोपयोग कहा जाए यह आगम में इष्ट नहीं है।

और ध्यान रहे कि मोक्षमार्ग प्रकाशक में ये सारे कथन किस व्यक्ति को ध्यान में रखकर किये जा रहे हैं। यहाँ निश्चयाभासी को समझाया जा रहा है जो तत्त्व-विचार, चिंतन आदि से ही मुक्त हो कर अपने को शुद्ध मान रहा है; यह वेदांती, सांख्य जैसे व्यक्ति को समझाया जा रहा है — “इसप्रकार जो जीव

केवल निश्चयाभास के अवलम्बी हैं उन्हें मिथ्यादृष्टि जानना। जैसे वेदान्ती व सांख्यमती जीव केवल शुद्धात्मा के श्रद्धानी हैं; उसी प्रकार इन्हें भी जानना। (पृष्ठ 209)। ऐसे जीव के लिए यह समझाना आवश्यक हो रहा है कि “पर-द्रव्य को जानते हुए भी (शुद्ध ध्यान में) वीतरागी बना रहता है इसलिए पर-द्रव्य के जानने का जो तू निषेध कर बैठा है वह योग्य नहीं है।” इस प्रकरण को ऐसे व्यक्ति के सन्दर्भ में देखा जाए तो ही सम्यक् अर्थ है अन्यथा समीचीन नहीं है।

इसलिए अप्रमत्त में शुद्धोपयोग होता ही है ऐसा आगम का कथन नहीं है।

किंच, आपके कहे अनुसार पर-द्रव्य को जानते हुए धर्म-ध्यान में भी शुद्धोपयोग होता है ऐसा मान भी लिया जाए तो भी अप्रमत्त गुणस्थान में आत्मानुभवरूप शुद्धोपयोग की अनिवार्यता नहीं है ऐसा जो इस लेख का मूल वक्तव्य है, वह तो सिद्ध हो ही गया है। इसे तो आपने भी अपने उपर्युक्त 'शुद्धोपयोग के दो प्रकार' कथन के द्वारा मान ही लिया है। अब बस उस अप्रमत्त को शुभ कहने के स्थान पर आप उसे शुद्ध कहना चाहते हैं। वह शुद्ध भी आपका आग्रह है, आगम कथित नहीं है। इस आग्रह को छोड़कर मुझे लगता है कि आप और मैं समान ही बात कह रहे हैं कि सातवे में हर बार आत्मा के अनुभव की कोई शर्त नहीं है। यदि यह ठीक है, तो बताएँ ताकि शेष चर्चा बस शब्द-भेद की की जावे, ना की सातवे के स्वरूप की।

शंका: यदि अप्रमत्त का स्वरूप शुद्धोपयोग नहीं है तो फिर जब भी गुणस्थान आरोहण होता है तो प्रथम, चतुर्थ या पंचम से सातवे में ही क्यों गमन होता है

? छठे में भी हो जाए; लेकिन ऐसा आगम में नहीं कहा है अतः अप्रमत्त में शुद्धोपयोग मानना ही ठीक है ।

**समाधान:** जब कोई मनुष्य प्रथम से चतुर्थ में जाता है तो वह प्रथमोपशम सम्यक्त अथवा क्षयोपशम सम्यक्तपूर्वक जाता है । सम्यक्त प्राप्ति के लिए विशुद्ध परिणाम आवश्यक हैं । मनुष्य गति की अपेक्षा तो शुभ लेश्या में ही सम्यक्त, संयम आदि परिणामों की प्राप्ति हो सकती है । यथा –

लब्धिसार गाथा २

चदुगदिमिच्छो सण्णी पुण्णो गब्भज विसुद्ध सागारो ।

पढमुवसम्मं गेण्हदि पंचमवरलद्धिचरिमम्ही ॥ २ ॥

टीका: ....विशुद्ध इत्यनेन शुभलेश्यत्वं संगृहीतम्....

अर्थ: चारों गतियों का मिथ्यादृष्टि, संज्ञी, पर्याप्त, गर्भज, मंदकषायी, साकारोपयोगी जीव पाँचवीं करणलब्धि के उत्कृष्ट अनिवृत्तिकरणरूप परिणाम के अंतिम समय में प्रथमोपशम सम्यक्त को ग्रहण करता है ॥ २ ॥

टीका-अर्थ : ...विशुद्ध इस शब्द से शुभ लेश्यापना ग्रहण किया है ।...

प्रथमोपशम सम्यक्त के पूर्व प्रायोग्य लब्धि एवं करण लब्धि होती है । इस प्रायोग्य लब्धि के अंतर्गत 34 प्रकृति बंधापसरण होते हैं जिसमें जीव के विशुद्ध परिणामों के निमित्त से उन प्रकृतियों का भी बंध अंतर्मुहूर्त के लिए रुक जाता है जिनकी बंध-व्युच्छिन्ति छठे गुणस्थान में होती है । यथा:

लब्धिसार गाथा १५

अथिरअसुभजस-अरदी सोय-असादे य होंति चोत्तीसा ।

बंधोसरणट्टाणा भव्वाभवेसु सामण्णा ॥ १५ ॥

अर्थ: अस्थिर, अशुभ, अयश, अरति, शोक, असाता – यह चौतीसवाँ स्थान है। इस प्रकार चौतीस बंधापसरण स्थान भव्य और अभव्यों में सामान्यरूप से दोनों को होते हैं ।

इसका तात्पर्य यह है कि जब पहले से चतुर्थ में गमन होता है तब ही जीव के परिणाम इतने निर्मल मंद कषाय के हो जाते हैं जिससे इतना अधिक बंध रुक जाता है तो जब प्रथम, चतुर्थ अथवा पंचम से मुनि अवस्था में गमन होता है तब जीव के परिणाम और भी मंद कषायरूप होते हैं। इसलिए मंद कषाय वाले सप्तम गुणस्थान में सीधे गमन होता है; तीव्र कषाय वाले छठे गुणस्थान में कभी भी सीधे गमन नहीं होता । ‘छठे में संज्वलन सम्बन्धी तीव्र कषाय का उदय है और सप्तम में मंद कषाय का उदय है’ — यह पहले ही इनके स्वरूप के अंतर्गत स्पष्ट किया जा चुका है । अतः सीधे सप्तम गुणस्थान में गमन का सम्बन्ध शुद्धोपयोग से नहीं, बल्कि मंद कषायपूर्वक गुणस्थान की प्राप्ति से है ।

शंका: प्रवचनसार गाथा २१६-२१९ में अमृतचन्द्र आचार्य ने मुनिराज की प्रयत चर्या कही है जिससे छठे में शुद्धोपयोग की सिद्धि होती है । इसलिए हम छठे में तो शुद्धोपयोग मान सकते हैं पर ‘सातवे में मात्र शुभोपयोग भी होता है’ – ऐसा नहीं है ।

प्रवचनसार गाथा २१६, तत्त्व-प्रदीपिका

अशुद्धोपयोग वास्तव में छेद है, क्योंकि (उससे) शुद्धोपयोगरूप श्रामण्य का छेदन होता है; और वही (अशुद्धोपयोग ही) हिंसा है, क्योंकि (उससे) शुद्धोपयोगरूप श्रामण्य का हिंसन (हनन) होता है । इसलिये श्रमण के, जो

अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होती ऐसे शयन-आसन-स्थान-गमन इत्यादि में अप्रयत चर्चा (आचरण) वह वास्तव में उसके लिये सर्वकाल में (सदा) ही संतानवाहिनी हिंसा ही है, – जो कि छेद से अनन्यभूत है (अर्थात् छेद से कोई भिन्न वस्तु नहीं है) ॥२१६॥

**समाधान:** भाई! क्या आप बस शब्द को पकड़ते हैं या कुछ प्रासंगिक अर्थ भी करते हैं! यहाँ किसे शुद्धोपयोग कहा है ? क्या यहाँ आचार्य आत्मानुभव रूप शुद्धोपयोग की चर्चा कर रहे हैं? नहीं, यहाँ प्रयत और अप्रयत चर्चा संबंधी शुद्धोपयोग और अशुद्धोपयोग को समझाया जा रहा है । इन गाथाओं में तो स्पष्टरूप से प्रमादरहित आचरण को शुद्धोपयोग कहा है और प्रमादसहित आचरण को छेद / अशुद्धोपयोग कहा है । प्रमादसहित आचरण छठे में होता है और प्रमादरहित आचरण सातवे में – ऐसा आप इन गाथाओं का अर्थ करेंगे तब तो छठा गुणस्थान प्रमत्तसंयत नामवाला होने से सदैव छेदसहित अशुद्धोपयोग ही कहलायेगा और ऐसा होने से मुनि मुनि ही नहीं रहेंगे क्योंकि आचार्य देव ने स्वयं कहा है कि *अशुद्धोपयोग वास्तव में छेद है* ।

लेकिन ऐसा तो नहीं होता । तब फिर क्या अर्थ है ? २१६ से २१९ गाथाओं में आचार्य देव ने प्राणी-हिंसा के होने पर छेद होता है या नहीं – इस संदर्भ में चर्चा की है । यह स्पष्ट किया है कि यदि श्रमण प्रयतवान हो तो प्राणी-हिंसा होने पर भी बंध नहीं होता है ।

**प्रवचनसार गाथा २१७**

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा (२१७)

पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥२३१॥

**अर्थ:** जीव मरे या जिये, अप्रयत आचार वाले के (अंतरंग) हिंसा निश्चित है; प्रयत के, समितिवान् के (बहिरंग) हिंसामात्र से बंध नहीं है ।

इसी विषय को राजवार्तिक में शंका उठाकर पूछा है कि सम्पूर्ण लोक जीवों से भरा होने पर प्राणी-हिंसा से कोई कैसे बच सकता है ।

**राजवार्तिक अध्याय संख्या ७, सूत्र १३ में उद्धृत-**

जले जन्तुः स्थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च।

जन्तुमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसकः।

सोऽत्रावकाशे न लभते। भिक्षोर्ज्ञानध्यानपरायणस्य प्रमत्तयोगाभावात्। किंच सूक्ष्मस्थूलजीवाभ्युपगमात्। सूक्ष्मा न प्रतिपीडयन्ते प्राणिनः स्थूलमूर्तयः। ये शक्यास्ते विवर्ज्यन्ते का हिंसा संयतात्मनः।

**प्रश्न** – जल में, स्थल में और आकाश में सब जगह जन्तु ही जन्तु हैं। इस जन्तुमय जगत में भिक्षु अहिंसक कैसे रह सकता है?

**उत्तर** - इस शंका को यहाँ अवकाश नहीं है, क्योंकि, ज्ञानध्यानपरायण अप्रमत्त भिक्षु को मात्र प्राणवियोग से हिंसा नहीं होती। दूसरी बात यह है कि जीव भी सूक्ष्म व स्थूल दो प्रकार के हैं। उनमें जो सूक्ष्म हैं वे तो न किसी से रूकते हैं, और न किसी को रोकते हैं, अतः उनकी तो हिंसा होती नहीं है। जो स्थूल जीव हैं उनकी यथाशक्ति रक्षा की जाती है। जिनकी हिंसा का रोकना शक्य है उसे प्रयत्नपूर्वक रोकनेवाले संयत के हिंसा कैसे हो सकती है?

धवला पुस्तक १४, पृष्ठ ९०

स्वयं ह्यहिंसा स्वयमेव हिंसनं न तत्पराधीनमिह द्वयं भवेत्।

प्रमादहीनोऽत्र भवत्यहिंसकः प्रमादयुक्तस्तु सदैव हिंसाकः ॥५॥

**अर्थ:** अहिंसा स्वयं होती है और हिंसा भी स्वयं ही होती है। यहाँ ये दोनों पराधीन नहीं हैं। जो प्रमाद रहित है वह अहिंसक है और जो प्रमाद युक्त है वह सदा हिंसक है।

सारांश यह है कि हिंसा का सम्बन्ध अयत्नाचार से है। यदि यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करें तो प्राणी-हिंसा होने पर भी श्रमण अहिंसक ही हैं। अतः प्राणियों से भरे लोक में कोई अहिंसक नहीं हो सकता ऐसी आशंका ठीक नहीं है। इस प्रसंग में ये गाथाएँ (२१६-२१९) चल रही हैं।

प्रवचनसार, तत्त्व-प्रदीपिका २१७

इस प्रकार जो अशुद्धोपयोग के बिना होता है ऐसे प्रयत्न आचार से प्रसिद्ध होने वाला अशुद्धोपयोग का असद्भाव पाया जाता है, उसके परप्राणों के व्यपरोप के सद्भाव में भी बंध की अप्रसिद्धि होने से, हिंसा के अभाव की प्रसिद्धि सुनिश्चित है।

यहाँ यह कहा है कि प्रयत्नवान् श्रमण ही शुद्धोपयोगी है, उसी से उसके तत्संबंधी बंध नहीं है। इसी को पुष्ट करते हुए इसके पश्चात् आचार्य जयसेन की टीका में २ अतिरिक्त गाथाएँ हैं जिनमें कहा है कि श्रमण के गमन में जीव हिंसा हो जाने पर भी वे कर्म-बंध नहीं करते।

प्रवचनसार २१७-१, २

उच्चालियम्हि पाए इरियासमिदस्स णिग्गमत्थाए ।

आबाधेज्ज कुलिंगं मरिज्ज तं जोगमासेज्ज ॥२१७-१॥

ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो य देसिदो समये ।

मुच्छा परिग्गहो च्चिय अजझप्पमाणदो दिट्ठो ॥२१७-२॥

**अर्थ:** ईर्या समिति से चलते हुये मुनिराज के, कहीं जाने के लिये उठाये हुये पैर के निमित्त से, किसी छोटे-प्राणी को बाधा पहुँचने या उसके मर जाने पर भी, उन मुनिराज के उस हिंसा के निमित्त से किंचित् मात्र भी बन्ध, आगम में नहीं कहा है। अध्यात्म-प्रमाण से मूर्च्छा को ही परिग्रह कहे गये के समान ।

इस प्रकार हर मुनिराज जो छठे, सातवे आदि गुणस्थानों में हैं वे अप्रयत्न चर्या वाले हैं और इसलिए वे सदैव शुद्धोपयोगी हैं याने वे सावधानीपूर्वक ही शयन-आसन-स्थान-गमन आदि क्रियाओं में प्रवर्तते हैं इसलिए उनके हिंसा नहीं होती है। अहिंसक होने से वे छेदरहित हैं, इसलिए शुद्धोपयोगी हैं। और ऐसा प्रयत्न चर्या सम्बन्धी शुद्धोपयोग तो मुनिराज के सतत पाया जाता है। इस पूरे प्रकरण में शुद्धोपयोग का सम्बन्ध आत्मानुभव से नहीं है बल्कि सावधानीपूर्वक की जाने वाली समिति आदि से है। अन्य शब्दों में कहें तो यह शुद्धोपयोग चरणानुयोग संबंधी शुद्धोपयोग है, द्रव्यानुयोग सम्बन्धी आत्मानुभव वाला नहीं। अतः आपका इस शुद्धोपयोग के सन्दर्भ से छठे में आत्मानुभव वाला शुद्धोपयोग मानना ठीक नहीं है। छठे में तो वास्तव में आत्मानुभव वाला शुद्धोपयोग भी पाया जाता है जिसकी सिद्धि छठे में दर्शन मोह की क्षपणा की चर्चा से होती है।

**शंका:** समयसार गाथा ६ में भी दिया है कि शुभ-अशुभ से रहित अप्रमत्त होता है अतः अप्रमत्त गुणस्थान शुद्धोपयोग ही होता है।



णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो ।

एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सोउ सो चेव ॥६॥

**अर्थ:** जो ज्ञायक भाव अप्रमत्त भी नहीं और प्रमत्त भी नहीं है, इस प्रकार उसे शुद्ध कहते हैं और जिसे ज्ञायक भाव द्वारा जान लिया है वह वही है, और कोई नहीं ।

**समाधान:** भाई, यहाँ प्रमत्त और अप्रमत्त का स्वरूप नहीं कहा गया है । इस गाथा में तो शुद्ध आत्मा का स्वरूप बताया है – जो प्रमत्त और अप्रमत्त दोनों भावरूप नहीं है वह ज्ञायक भाव है । इसकी टीका में यह कहा है कि शुभ-अशुभ भावरूप नहीं होता इसलिए ना प्रमत्त है, ना अप्रमत्त है । यथा –

**समयसार गाथा ६, आत्मख्याति टीका**

...दुरंतकषायचक्रोदयवैचित्र्यवशेन प्रवर्तमानानां पुण्यपापनिर्वर्तकाना-  
मुपात्तवैश्वरूप्याणां शुभाशुभभावानां स्वभावेनापरिणमनात्प्रमत्तेऽप्रमत्तश्च न भवति ।...

...दुरन्त कषाय-चक्र के उदय की (कषाय-समूह के अपार उदयों की) विचित्रता के वश से प्रवर्तमान पुण्य-पाप को उत्पन्न करनेवाले समस्त अनेकरूप शुभाशुभ भाव, उनके स्वभाव-रूप परिणमित नहीं होता, इसलिए वह प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है; वही समस्त अन्य द्रव्यों के भावों से भिन्नरूप से उपासित होता हुआ 'शुद्ध' कहलाता है ।...

**तात्पर्यवृत्ति टीका**

शुद्ध द्रव्यार्थिक-नय से जिसमें शुभ और अशुभ रूप परिणमन करने का अभाव होने से जो न तो प्रमत्त ही है और न अप्रमत्त ही है ।

यहाँ ऐसा नहीं कहा है कि शुभ-अशुभ भावरूप ना होने से प्रमत्त नहीं है और शुद्ध भावरूप ना होने से अप्रमत्त नहीं है । याने “शुभ-अशुभ भाव प्रमत्त और शुद्ध भाव अप्रमत्त” – ऐसा विभाजन नहीं किया है । यह गाथा प्रमत्त-अप्रमत्त के स्वरूप या शुद्धोपयोग की नहीं है । यह तो गुणस्थान से अतीत शुद्ध आत्म तत्त्व को बताने वाली महान गाथा है । इससे अप्रमत्त गुणस्थान में शुद्धोपयोग ही होता है इसका कोई संबंध नहीं है ।

**शंका:** जो दो प्रकार के शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी श्रमण कहे हैं वे एक ही काल में एक ही जीव को कहा है । दो प्रकार के अलग-अलग श्रमण नहीं होते हैं । इसलिए जो दो प्रकार के श्रमण होने से आप शुभोपयोग और शुद्धोपयोग अलग-अलग घटाना चाहते हैं वह ठीक नहीं है ।

**समाधान:** सो भी भ्रम है । आप गाथा प्रवचनसार गाथा २४५ और २४८ की टीका पढ़िए । इसमें साफ़-साफ़ शब्दों में कहा है कि कोई शुभोपयोगी श्रमण होते हैं और कोई शुद्धोपयोगी श्रमण होते हैं । जिनके शुभोपयोग की प्रधानता है वे शुभोपयोगी हैं और जिनके शुद्धोपयोग की प्रधानता है वे शुद्धोपयोगी हैं । इस तरह ये दो अलग-अलग प्रकार के श्रमण हैं । हाँ, ये हो सकता है कि कोई शुभोपयोगी श्रमण किसी काल में शुद्धोपयोग की पुनः-पुनः आवृत्ति करके शुद्धोपयोगी की श्रेणी में आ जाएँ और कोई शुद्धोपयोगी शुभोपयोगी की श्रेणी में आ जाएँ । लेकिन एक ही श्रमण को शुभोपयोगी और शुद्धोपयोगी नहीं कहा गया है । इसके लिए गए दृष्टांत को भी देखिये – आम्रवन, निम्बबन की भांति

अर्थात् आम्रवन और निम्बवन जैसे एक ही वन के दो नाम नहीं हैं; दोनों अलग-अलग भिन्न-भिन्न वन हैं उसी प्रकार शुद्धोपयोगी श्रमण और शुभोपयोगी श्रमण ये एक ही व्यक्ति के दो नाम नहीं हैं; दोनों अलग-अलग श्रमण हैं । अतः इनको एक ही मानना आचार्य देव का अभिप्राय नहीं है ।

इन सब आगम आधारों से यह स्पष्ट होता है कि अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में आत्मा का अनुभव होवे ही, ऐसी अनिवार्यता नहीं है । मुनिराज आत्म-लीनता के पुरुषार्थ में सतत उद्यमी रहते हैं परन्तु आत्मानुभव यथायोग्य काल में ही होता है । अभी भी आपको शंका हो तो इस कथन को भी बुद्धि में रखकर आगम-अध्यात्म ग्रंथों को पढ़ें, आपको इस स्वरूप की सत्यता का प्रतिभास हो जाएगा ।

- विकास जैन (छाबड़ा), इंदौर

16-4-20